राष्ट्रभाषा पर विचार

(राष्ट्रभाषा-संबंधी विविध प्रश्नों का समाधान)

श्रीचंद्रबली पांडे

'हिंदी'-संपादक

सरस्वती-मंदिर

जतनबर, काशी

पुस्तक-विक्रेता—
नंदकिशोर एंड ब्रदर्स,
चौक, बनारस।

मुद्रक—
डब्ल्यू. एम. गोडसे,
भूषण प्रेस, ब्रह्माघाट, काशी।

अपनी भी सुनें

उस दिन क्या जानता था कि किसी दिन नागरी-हित के हेतु इतना लोहा लेना पडेगा और इस तनिक सी सीधी बात के लिये इतना तूमार बँधेगा। बात यह थी कि इस जन के परम हितैषी श्री दुर्गाप्रसाद जी जोशी को (जो उस समय अपने तप्पा के कानूनगो थे) कहीं से एक सम्मन मिल गया था जो हिन्दी के कोठे में था पर भरा गया था कचहरी की फारसी लिपि में ही। पढते-पढ़ते दम निकल गया पर उसका भेद न खुला। जोशी जी ने उसके सम्बन्ध में जो कुछ कहा उसको कहने की आवश्यकता नहीं। जानते तो आप भी इतना हैं कि उसे नागरी में ही रहना था और होना था इस रूप में कि वह किसी भी साक्षर की समझ में आ सके। परन्तु हमारी कचहरियों का काम समझने के लिये तो तब होता जब आप अपनी समझ से काम लेते और किसी के सहारे अपना अधिकार पाने का भाव छोड़ देते। संयोग की बात कहिए, उस समय स्वर्गीय अल्लामा शिबली नोमानी के आत्मज का तहसील में राज्य था- वही वहाँ के तहसीलदार थे। किया तो उन्होंने बहुत कुछ परन्तु श्री जोशी जी भी पहाड़ी जीव थे और सो भी पर्वतराज हिमालय के। अपने लक्ष्य से तनिक भी न डिगे और किसी न किसी प्रकार हिन्दी को अपने काम-काज में पनपाते रहे। किन्तु यह तो उनकी बात हुई और हुई उनके सरकार की। हमारी सरकार नागरी को अपनाती और उसका व्यवहार जनता के उपकार के लिये चाहती भी है। किन्तु यह हो नहीं पाता बीच के रोड़ों के कारण। इन्हीं रोड़ो की ओर ध्यान दिलाना श्री जोशी जी का काम था और इन्हीं रोड़ों को खोज निकालना इस जन का काम है।

'भाषा' का प्रश्न राष्ट्रभाषा का प्रश्न बन गया। उर्दू सन् १७४४-४५ ई० में उर्दू में अर्थात् दिल्ली के लाल क़िला में बनी और मुगल शाहजादों एव दरबारी लोगों के साथ लखनऊ, अजीमाबाद (पटना) और मुर्शिदाबाद आदि शहरों में पहुँची। फारसी के साथ-साथ कम्पनी सरकार के दरबार में दाखिल हुई और

सन् १८०० में फोर्ट विलियम कालेज में जा जमी। फोर्ट विलियम कालेज की कृपा से वह हिन्दुस्तानी बनी और 'हिन्दी' को 'हिन्दुई' बता कर देश में फैलने का डौल डाला। फिर क्या हुआ इसका लेखा कब किसने लिया और आज कोई क्यों लेने लगा! आज तो २४ घंटे में इस देश के सपूत उर्दू सीख रहे हैं पर उर्दू का इतिहास मुँह खोलकर कहता है कि 'हिन्दी' को उर्दू आती ही नही। और उर्दू के लोग? उनकी कुछ न पूछिए। उर्दू के विषय मे तो उन्होंने ऐसा जाल फैला रखा है कि बेचारी उर्दू को भी उसका पता नहीं। आज उर्दू क्या नहीं है! घर की बोली से लेकर राष्ट्र की बोली तक जहाँ देखिए वहाँ उर्दू का नाम लिया जाता है और कहा यह जाता है कि वास्तव में यही सब की बोली है। इस 'सब की' का अर्थ?

उर्दू का कुछ भेद खुला तो 'हिन्दुस्तानी' सामने आई और खुलकर कहने लगी—यह भी सही, वह भी सही; यह भी नहीं, वह भी नहीं; हिन्दी भी, उर्दू भी, फारसी भी, अरबी भी, सस्कृत भी, ठेठ भी, पर नहीं, सबकी बोल-चाल की भाषा। 'बोलचाल की भाषा' का अर्थ? बोलचाल की भाषा अभी बनी नहीं बनने को है। तो?

इस बनने की क्रिया में अच्छा सूत्र हाथ लगा। राष्ट्रभाषा बनी नहीं तो राष्ट्र कैसे बना? भारत को एक राष्ट्र कहता कौन है? यदि इस देश में कोई राष्ट्र है तो मुसलिम। और दूसरा राष्ट्र कहां है? बँगाली अलग, पंजाबी अलग; मद्रासी अलग, गुजराती अलग; हिन्दू अलग, अछूत अलग, फिर इस अलग के राज्य में राष्ट्र कहाँ है जो उसके लिये इतना ऊधम मचाया जा रहा है? 'हिन्दुस्तान' के पहले इस सारे देश का कोई नाम भी था? सस्कृत मर चुकी, प्राकृत रही नहीं, और 'भाषा' का नाम ही जाता रहा, फिर उत्तर कौन दे? 'राष्ट्रभाषा पर विचार' में और कुछ नहीं इसी का रोना और इसी का समाधान है। उपाय आप के हाथ है, विचार इस ग्रन्थ में।

इस ग्रथ के प्रायः सभी लेख कहीं न कहीं प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें केवल एक अप्रकाशित है जो पहले पहल इस सग्रह में प्रकाशित हो रहा है। 'हिन्दुस्तानी प्रचार-सभा' को छोड कर सभी पहले निकल चुके हैं। इनमें

प्रथम दो तो भाषण हैं जो 'हरिद्वार' तथा प्रयाग में पढ़े तथा दिए गए थे। प्रयाग का भाषण मौखिक रूप में था। बात यह थी कि प्रयाग विश्वविद्यालय के 'हिन्दी परिषद्' की ओर से एक योजना प्रस्तुत हुई थी जिसके अनुसार २३ नवम्बर सन् १९३९ ई० को 'राष्ट्रभाषा का स्वरूप' पर विद्वानों में विचार हुआ। विचार था कि 'भाषण' पुस्तकाकार प्रकाशित हो जायँ। फलत उसे लिपिबद्ध किया और सम्मेलनपत्रिका ज्येष्ठ-आषाढ़ में वह छप भी गया। हरिद्वार का भाषण हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के राष्ट्रभाषा परिषद् में अध्यक्ष-पद से पढ़ा गया था। हिन्दी-हिन्दुस्तानी का उदय श्रद्धेय टंडन जी के प्रतिवादः में लिखा गया था और 'सम्मेलन और जनपद' जनपद-आन्दोलन की रोक-थाम के लिये जनपद-समिति के सयोजक के रूप में। शेष के विषय मे कुछ विशेष परिचय की आवश्यकता नहीं। हाँ, यहाँ इतना और भी स्पष्ट कर देना है कि राष्ट्रभाषा पर भली भाँति विचार करने की दृष्टि से ही इस सग्रह में महात्मा गान्धी, श्री काका कालेलकर, डाक्टर ताराचन्द तथा श्री सत्यनारायण के विचार दिए गए हैं जो उन्ही के लेखो में व्यक्त हैं और जिनको और भी खोल कर दिखाने के लिये उन पर अपनी ओर से टिप्पणी भी दे दी गई है। आशा है उनसे अनेक भ्रमो का निवारण तथा उच्छेद होगा।

अन्त में हम उन सभी पत्र-पत्रिकाओ के आभारी और कृतज्ञ हैं जिनकी कृपा से जब-तब, जहाँ-तहाँ इन लेखो का प्रकाशन हुआ और फलतः आज भी कुछ हेर-फेर और कटछाँट के साथ इस सरलता से यहाँ प्रकाशित हो रहे हैं। आशा है भविष्य मे भी 'सरस्वती-मंदिर' इस प्रकार की रचनाओं के प्रकाशन मे विशेष दत्तचित्त रहेगा और राष्ट्रभाषा के क्षेत्र में किसी से पीछे न रहेगा।

गुरु-पूर्णिमा
सं० २००२ वि०

चन्द्रबली पांडे
काशी

विषय-सूची

१—राष्ट्रभाषा

गिरा अरथ जल-बीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न।
बंदौं सीताराम-पद, जिनहिं परम प्रिय खिन्न॥

देवियो और सज्जनो !

देश जब टुकड़ों टुकड़ों में बँट रहा हो और यारों की पाकिस्तानो दृष्टि उसकी बोटी बोटी के लिये ललक रही हो तब इस प्रकार एकत्र हो राष्ट्र-भाषा पर विचार करना आप ही का काम है। कहते हैं, कभी संकट के समय इस देश के ८८००० ऋषि एकत्र हो किसी अरण्य में लोक-मंगल का उपाय सोचते और फिर एकमत हो नगर नगर, गाँव गाँव और घर घर उसकी धूम मचा देते। वन न सही, हरिद्वार की पुण्यस्थली किस तपोभूमि से कम है। आइए हम-आप एकमत हो कोई ऐसा उपाय करें जिससे राष्ट्रभाषा का प्रचार घर घर हो जाय और राष्ट्र का कोई भी कोना उससे अछूता न बचे। स्मरण रहे, यह भावना हमारे लिये नई नहीं है। नहीं, हमने भी 'अशोक' और 'समुद्र' के शासन में वह काम किया है जो आज बाहर का प्रसाद समझा जाता है। कौन है जो सचाई के साथ हमारे इतिहास को देखे और फिर हृदय पर हाथ रखकर, आँख मिलाकर हमारे सामने कह तो दे कि इसलाम के आगमन के पहले अथवा अँगरेजों के यहाँ जमने के पूर्व भारत कभी एक न था। भारत के किसी भी कोने में जाकर देखो, उसके 'संकल्प' को सुनो, उसके 'अभिषेक' को देखो, उसकी धाम-यात्रा के विवरण को पढ़ो और फिर कहो तो सही भारत की एकता कितनी पुरानी है और उसकी 'भारती' कितनी सजीव है।

भारत की राष्ट्रभाषा भारती का इतिहास बड़ा रोचक है। यहाँ उसकी रामकहानी से क्या लाभ ? यहाँ तो उर्दू-अँगरेजी का अभिमान चूर करने के लिये इतना ही दिखा देना पर्याप्त होगा कि ईरानी-तूरानी

मुसलमानों के आगमन के पहले ही यहाँ की राष्ट्रभाषा भली भाँति चारों ओर फैल चुकी थी और अपने शिष्ट तथा सहज दोनों ही रूपों में सर्वत्र व्यवहृत हो रही थी। और तो और, महमूद गजनवी जैसे कट्टर गाजी सुलतान की मुद्राओं पर वही मुई संस्कृत विराजमान है जिसका नाम ही आज उर्दू को रसातल भेज रहा है। लाहौर मे उसका जो सिक्का ढला उस पर लिखा गया—'अव्यक्तं एकं, मुहम्मद अवतार, नृपति महमूद' एवं 'अयं टंको महमूदपुरे घटे हतो, जिनायनसंवत्'। ध्यान देने की बात है कि महमूद मुहम्मद साहब को अवतार तथा उनके हिजरी संवत् को जिनायन लिखवाता है और इस बात से तनिक भी भयभीत नहीं होता कि उसके कट्टर मुल्ला उसका विरोध करेंगे। करते भी क्यों ? उस समय का इसलाम कुछ और ही था। आज तो 'श्री' शब्द से इसलाम ने शत्रुता ठान ली है पर कभी शहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी से शेरशाह सूर तक सभी समर्थ बादशाहों के सिक्कों पर 'श्री हम्मीर' 'श्री हमीर' आदि का दर्शन हो जाता है और धर्मधुरीण कट्टर 'नमाज़ी' औरंगजेब के शासन मे तो इस 'श्री' की बाढ़ सी आ जाती है। देखिए न उस समय का एक 'गृहाङ्घाणक पत्र' है—

"स्वस्ति श्री संवत् १७२४ वर्षे माघ सुदि ७ गुरौ अद्येय पातशाहा श्रीसुलतान शाहा आलमग्यरी साहिबकुरानशानी धारमिक सत्यवादी वाचा अविचल व्यचनकुलतिलक सकलरायांशरोमणि महाराजराज्येश्व एहवो पातशाहा श्री श्री श्री श्री श्री श्री श्री अवरंगजेब सरबमुद्राराज्यं करोति तस्यादेशात् श्रीगुजरातमध्ये सो० श्रीराजनगरे सोबेसाहिब नु वाप श्रीमहबतषान दीवानी श्री श्री हाजीमहिमद सफि छि। हवि षासपत षालसि श्री षंभायतहवालि मीयाँ श्री श्री जहान अलावदीन हवडां श्री सूरत मध्ये छे। ते षंभायतनी चोषंडीइ न्यायकर्ता हाकिम मीयाँ श्री मीरमाजूला कजाइकानो श्री महिमद सरागदीन वाकेनिकसे मीयाँ श्री अहमेद वेग दीवानी श्री किशुरदास श्री कोटवाली चोतरि मीर काशम-वेग वेसे छे। एवमादीपञ्च कुलप्रतिपतौ श्रीषंभायतवास्तव्य श्री ओसवाल-ज्ञातीय वृद्ध शाषायां साषीमवतूनी। धनीआणि वाई फूला ता तथा सा

मानशंग ठाकरशीपारस्यात् योग्य लषित ओसवालज्ञातीय लघूशाषायां बाई मणिकदेहस्वाक्षराणि दत्ता..."

(लेखपद्धतिः, गा० ओ० सी०, संख्या १९, पृष्ठ ७७)

'श्री' के प्रचुर प्रयोग के साथ ही यह भी टाँक लेना चाहिए कि लेख संस्कृत के आधार पर ही चल रहा है। इस प्रकार की चलित संस्कृत से स्पष्ट हो जाता है कि आलमगीर औरंगजेब ने आमों के नाम क्यों शुद्ध संस्कृत में 'सुधारस' और 'रसना-विलास' रखे। औरंगजेब के समय में संस्कृत किस प्रकार अपने टूटे-फूटे रूप में व्यवहार में चलती रही इसकी एक झलक मिल गई। अब मुहम्मदशाह रँगीले के शासन की भी एक झाँकी लीजिए—

श्रीरामः।

V श्री महम्मदसाह

१—सिद्धिरस्तु॥ परमभट्टारकेत्यादि-राजावलीपूर्वक (-) गतलक्ष्मण-सेनदेवीय (-) विंशत्यधिक (-)

२—षट्शते लिख्यमाने यत्राङ्केनापि ६२० ल-सं। पुनःपरम-भट्टारकाश्वपति-गजपति नरप-

३—ति-राजत्रयाधिपति-महासुरत्राण-श्री श्री श्री श्री V पालिते धरणिमण्डले तत्प्रेषित-कु-

४—सुमपुरावस्थित-श्रीश्रीमत्फकरओदओलाखान-समुल्लासित-महा-राज-श्रीश्रीमद्रा-

५—घवसिंहदेव-पालितायां मिथिलार्थं हाटीतप्पान्तर्गत-सौराष्ट्र-ग्रामवासी सो-

६—दरपुरसं-श्री कमलनयनशर्मा ज्योतिर्वित् शूद्रक्रयणार्थं स्वधनं प्रयुंक्ते। धनग्राहको-

७—प्येतत्सकाशात् सौराष्ट्रग्रामवासी स्वयमेव दुल्लीदासः पराळी-दासश्च। यथा के-

८—नापि परालीदासेनात्मीयेन नानामध्यस्थकृता राजतः सार्द्धैकाद-
शमुद्रा मू
९—ल्यमादायास्मिन् धनिनि स्वयमेव दुल्लीदासः स्वात्मानं
विक्रीतवान्।
१०—आवत्मात्म्यजातीयं गौरवर्णं तर्कितदशवर्षवयस्कं दुलियानामानं
स्वयमा—
११—त्मानं विक्रीतवान्। यत्र अत्र ? विक्रीतप्राणी १ मूल्यं
मुद्राः ११॥ यदि क्वापि प्रपलाय्य गच्छ—
१२—ति तदा राजसिंहासनतलादप्यानीय दासकर्मणि नियोजनीय
इति। अत्रार्थे
१३—साक्षिनः सकराढ़ीसं श्रीशतञ्जीवशर्म-वलियाससं श्रीगणपतिमिश्र
सकराढ़ी—
१४—सं श्रीवासुदेवझा-बभनिआँमसं श्रीबान्धवझा-गङ्गौलीसं श्री
कृपाराम—
१५—झा-शतलखासं श्रीरामजीवशर्म-फनदहस महोपाध्याय श्रीरुचि
पतिमिश्र—
१६—खौयालसं श्रीभीषणशर्म बुधवालसं श्रीगोननशर्मानः सौराष्ट्र
वासिनः—
१७—लिखितमिदमुभयानुमत्या सार्द्धैकादशाणकानादाय सकराढ़ीसं
श्रीतारा—
१८—पतिशर्मणेति शिवं। चैत्रासित ३ कुजे शाके १६५१ सन्
१११६ साल॥
१९—सही दुल्ली अमातक। साड़े एगारह रुपैआ लए बिकए-
लहु। सही
२०—पराली। वहिक वर्षमध्ये पडाए तबो हमें निसाकपेअ वेउजुर॥

(Indian Historical record Commission, Proceedings of the meetings Vol XIII, 1942 P. 87-9)

अस्तु, अब तो यह मान लेने में किसी भी मनीषी को कोई अड़चन

नहीं रही कि मुगल साम्राज्य में संस्कृत जीवित रही और भाषा के साथ ही साथ बात-व्यवहार वा लेन-देन में चलती रही। संस्कृत को बार बार मृत भाषा कहनेवालों को तनिक होश में आना चाहिए और इस प्रकार की धाँधली मचाने के पहले एक बार अपने पूर्वजों की पोटली को खोल देखना चाहिए। पुराने पादरियों के शिष्य फिरंगी चाहे कुछ भी कहते रहें पर भारतीय भाषाओं के कुशल पंडित आज भी संस्कृत के प्रभाव को मानते हैं और कभी कभी तो उसी को राष्ट्र-भाषा के रूप में देखना भी चाहते हैं। एक विद्वान् उसको किसी भी भारतीय देशभाषा से अधिक व्यापक और सुदूर देशों में फैली हुई पाता है तो दूसरा उसी के सरल चलित रूप को राष्ट्रभाषा के योग्य समझता है। जो हो, भारत राष्ट्रभाषा संस्कृत को छोड़ कर जी नहीं सकता। प्राण रहित शरीर और वारि-रहित नदी की जो स्थिति है वही संस्कृत-रहित भारत की अवस्था है। हाँ, जिनकी दृष्टि में 'इंडिया' के पहले कोई 'इंडिया' अथवा 'हिंदुस्तान' के पहले कोई 'हिंदुस्तान' ही नहीं था वे कुछ भी बकते रहें, हम उनकी तनिक भी चिन्ता नहीं करते पर हम तड़प उठते हैं यह देखकर कि हमारे संस्कृताभिमानी विश्वविद्यालय में छात्रों को पढ़ाया जाता है—"जब समस्त भारत की राष्ट्रभाषा संस्कृत थी, उस समय उसका नाम 'भारती' था। यह भारत की 'भाषा' या उसकी अंतरात्मा 'सरस्वती' थी। वह भाषा अपने वाङ्मय या 'सरस्वती' को वहन या धारण करने की इतनी प्रकाम क्षमता रखती थी कि उपासकों ने भाषा और भाव—शरीर और आत्मा—दोनों की एकता मान कर विग्रह में ही देवता की प्रतिष्ठा कर ली।" ('गद्यभारती' की भूमिका का 'राम')। इस प्रकार के वाग्जाल के द्वारा चाहे संस्कृत शब्दों की जितनी भँड़ैती की जाय पर इसका सीधा अर्थ यही निकलता हे कि संस्कृत भूत की बात हो गई। अब न तो वह भारत की भारती रही और न उसकी अंतरात्मा 'सरस्वता'। तो क्या हिंदू संस्कृति का उद्धार और भारत का अभ्युदय इसी 'थी' से होगा? क्या भाषाशास्त्र का सारा सार इसी 'थी' में छिपा है?

नहीं, अब इसका भरपूर विरोध होना चाहिए और अपने होनहार

विद्यार्थियो को इस प्रकार के कुपाठ से सर्वथा बचाना चाहिए। सच पूछिए तो हमारे राष्ट्र का विनाश जितना कुपढ़ हाथों से हो रहा है उतना अपढ़ लोगों से नहीं। भारत की भाषा आज भी भारती ही है—संस्कृत न सही भाषा तो है। भला कौन कह सकता है कि तुलसी के रहते रहते 'भाषा' तो रह गई पर संस्कृत मर गई? नहीं, कदापि नहीं। तुलसी ने 'रामचरितमानस' मे लोकभाषा के साथ ही साथ देवभाषा का भी विधान किया है। ऊपर की वंदना में गिरा, जल, बोचि, सम, भिन्न, सीता, राम, पद, परम, प्रिय, खिन्न सभी तो शुद्ध संस्कृत हैं; केवल छंद के अनुरोध से अर्थ को 'अरथ' कर दिया है, अन्यथा वह भी संस्कृत ही है। अब यदि यह संस्कृत मरी भाषा है तो जीवन किसे कहते हैं? हम तो नही समझते कि संस्कृत पर धूल उड़ानेवाले कुछ जानते भी हैं अथवा राष्ट्रभाषा के प्रसंग में संस्कृत के साथ अरबी को ला खड़ा करनेवाले कहीं कुछ बुद्धि वा विवेक भी रखते हैं। अरबी का तो भारतीय भाषाओं से उतना भी लगाव नहीं जितना कि अँगरेज़ी का है। हाँ, ईरानी पड़ोस में बस सकती है पर अरबी कदापि नहीं। जब उर्दू 'नबी की ज़बान' बताई जा रही है तब तो और भी नहीं। क्योंकि नबी देशभाषा के पुजारी थे, कुछ विदेशभाषा के प्रचारक नहीं।

अरबी से हमारे देश का जो इसलामी नाता है उस पर आगे चलकर विचार होगा। अभी कहना यह है कि इसलाम के आ जाने से कोई नई जाति भारत में नहीं आ गई। जिनके बाप-दादे पहले आततायी के रूप में आते थे वे ही अब मुसलिम के रूप में आने लगे। अंतर इतना अवश्य हो गया कि पहले रसते बसते यहीं के हो जाते थे और अब यहाँ के लोगों को भी यहाँ से उखाड़कर कहीं और का बताने लगे। कहने का तात्पर्य यह कि जहाँ धीरे धीरे अपने को राष्ट्र का अंग बना लेते थे, अब प्रमादवश राष्ट्र के कोढ़ के रूप में सामने आने लगे और जब अपनी सारी सत्ता खो बैठे तब भाषा के सिर हो रहे और इसलाम की ओट मे पेट चलाने लगे। पेट-पूजा की चिंता और शाही शान ने राष्ट्रभाषा के विकास में जो बाधा उपस्थित की वह पनपकर उर्दू

के रूप में फूल उठी और उसका फल पाकिस्तान निकला। अब कहाँ हिंद और कहाँ हिंदुस्तान ! बस अब तो पाकिस्तान ही दिखाई दे रहा है। तो क्या पाकिस्तान अरबी शब्द है? कुरानमजीद से उसका भी कोई नाता है ? जी नहीं। तो फिर हमारा प्रश्न है 'दारुल्इसलाम' क्यों नहीं, पाकिस्तान क्यों? 'अल्लाह' क्यों नहीं 'खुदा' क्यों, 'सलात' क्यों नहीं 'नमाज' क्यों ? 'सौम' क्यों नहीं 'रोजा' क्यों ? इस क्यों का जवाब दो तो राष्ट्रभाषा के विषय में मुँह खोलो अन्यथा बादशाहत का स्वप्न देखते फिरो।

राष्ट्रभाषा ने कभी किसी शब्द का बहिष्कार नहीं किया, यदि वह कुछ लेकर आया तो भारत की सभी भाषाओं में उसका स्वागत हुआ। संस्कृत में न जाने कितने शब्द प्रचलित हो गए। भाषा का कोष उनसे भी भरा। पर परदेशी जी इतने से न भरा। उसने देखा कि शाही गई, शाही शान गई, और गई शाही बोली। अब जो कुछ बच रहा है वह है दीन और दुनिया। दीन को अरबी का सहारा था, है और रहेगा भी। इसलाम अरबी को सर्वथा भुला नहीं सकता। पर कोई भी सच्चा हिंदी मुसलमान हिंदी को छोड़कर फारसी को अपनाने क्यों लगा ? आज ईरान भी तो उससे कोसों दूर जा पड़ा है। आज ईरान की भाषा खरी ईरानी हो रही है—फारसी का नाम तक नहीं लिया जाता। आज तुर्की की भाषा शुद्ध वा निपट तुर्की बनाई जा रही है—अरबी की कोई बात भी नहीं पूछता। वह मजहब की चीज हो सकती है, राष्ट्र की भाषा नहीं। सारांश यह कि वहाँ आसमान को जमीन से, दीन को दुनिया से, अलग करके देखा जा रहा है, कुछ दोनों को गड्डमड्ड करके नहीं। तनिक सोचने, समझने और विचार करने की बात है कि भारत में क्या और अन्यत्र के इसलाम में क्या और क्यों हो रहा है ? बिना बिचारे राष्ट्रभाषा की कोटि में उर्दू क्या फारसी-अरबी को ला खड़ा करना मज़हब नहीं कुफ्र है, इसलाम नहीं उपद्रव है। यदि दीन का दर्द है तो दीन की दृष्टि से उसपर विचार हो और सब प्रकार से उसका पालन भी हो। पर यदि दुनिया की चाल है तो उसकी गति को परखो

और व्यर्थ मे राष्ट्रभाषा के मार्ग में खाई न खोदो। याद रखो, उर्दू को बने अभी २०० वर्ष से अधिक नहीं हुए। कहने को चाहे कुछ भी कहो पर सची और दोटूक बात तो यह है कि—

"यहाँ (शाहजहानाबाद) के ख़ुश बयानों[1] ने मुत्तफिक[2] होकर मुताद्दिद[3] ज़बानों से अच्छे अच्छे लफ्ज़ निकाले और बाज़ इबारतों और अल्फाज़ में तसर्रुफ[4] करके और ज़बानो से अलग एक नई ज़बान पैदा की जिसका नाम उर्दू रखा।" (दरियाए लताफत, अंजुमने तरक्कीए उर्दू, दिल्ली, आरम्भ)

सैयद इशा जैसे भाषाविद् ने 'दरियाए लताफत' जैसी सनदी किताब मे उर्दू के विषय मे जो कुछ लिखा है उसे उर्दू के इतिहास-लेखक जान-बूझकर पी गए और उसे ऐसा पचा लिया कि आज उसकी गंध तक नहीं आती। परंतु यदि खोज की आँख से देखा और उर्दू के कारनामों का लेखा लिया जाय तो स्थिति आप ही स्पष्ट हो जाती है। सैयद इंशा की दरियाए लताफत सन् १२०३ हि० (१८०८ ई०) में रची गई और रची गई लखनऊ के नव्वाब सआदत अलीखाँ के दरबार में। अतः इसके प्रमाण होने में कोई त्रुटि नहीं। फिर भी अच्छी तरह आँख खोलने के लिये श्री मुहम्मद बाकर 'आगाह' (११५८-१२२० हि०) जैसे दक्खिनी मौलवी की भी सनद लीजिए। आप कहते हैं—

"वली गुजराती ग़ज़ल रेख़ता की ईजाद में सभों का मुक्तदा[5] और उस्ताद है। बाद उसके जो सुख़ुनसंजाने[6] हिन्द बुरोज़[7] किए (?) बेशुबहा उस नहज[8] को उससे लिये और मिन[9] बाद उसको बासलूब[10] खास मख़सूस कर दिये और उसे उर्दू के भाके से मौसूस[11] किए" (मद्रास मे उर्दू, इदारा अदबियात उर्दू, संख्या ८१, हैदराबाद दकन, १६३८ ई० पृष्ठ ४७)।

आगे चलकर फिर यही 'आगाह' साहब बताते हैं—

१—साधु-वक्ताओं। २—एकमत। ३—गिनी हुई। ४—हस्तक्षेप। ५—अग्रणी। ६—कवि। ७—प्रकट। ८—प्रणाली। ९—से। १०—रीति के साथ। ११-नामी।

"अवाख़िर अहद मुहम्मदशाही से इस असर-तलक इस फ़न में अक्सर मशाहीर[1] शुअरा अरसा[2] में आए और अक़साम[3] मंज़ूमात[4] को जलवे[5] में लाए हैं, मिस्ल दर्द, मज़हर, फ़ुग़ाँ .." (पृ० ४७)।

मौलाना आगाह ने 'मसनवी गुलज़ारे इश्क़' की रचना सन् १२११ हि० में की अर्थात् सैयद इंशा से १२ वर्ष पहले अपनी मसनवी में उर्दू की उत्पत्ति की उक्त सूचना दी। आगाह के कहने से इतना और भी स्पष्ट हो जाता है कि हो न हो उर्दू की ईजाद मुहम्मदशाह रँगीले के शासन में ही हुई। इसके पहले मुग़ल दरबार की हिंदी क्या थी उसे भी कुछ जान लें तो उर्दू का भेद खुले। अच्छा तो वही आगाह साहब फिर हमे आगाह करते हैं—

"जब शाहाने हिंद इस गुल्ज़ार[6] जन्नत[7] नज़ीर को तसख़ीर[8] किए तर्ज़ व रोज़मर्रा दक्खिनी नहज मुहावरा हिंदी से तबदील पाने लगे ता ऑ कि रफ्ता-रफ्ता इस बात से लोगों को शरम आने लगी और हिंदुस्तान मुद्दत लग ज़बान हिंदी कि उसे ब्रज भाषा बोलते हैं रवाज रखती थी अगर चे लुग़ात[9] संस्कृत उनकी अस्ले उसूल[10] और मख़रज[11] फ़ुनून[12] फ़ोरुअ[13] उसूल है।" (पृ० ४६)

उर्दू के प्रसंग को यहीं छोड़ अब हम थोड़ा यह दिखा देना चाहते हैं कि दक्षिण का हिंदी से वस्तुतः क्या संबंध रहा है। परंतु इस संबंध पर विचार करने के पूर्व ही आगाह के एक अन्य कथन पर भी ध्यान देना चाहिए। आपको 'उर्दू की भाका' भाती नहीं। कारण, उन्हीं के मुँह से सुनिए—

"जब ज़बान क़दीम दक्खिनी इस सबब से कि आगे मरक़ूम[14] हुआ, इस असर[15] में रायज नहीं है, उसे छोड़ दिया और मुहावरा

१—प्रसिद्ध। २—परंपरा। ३—भेदों। ४—पद्यों। ५—प्रकाश। ६—उद्यान। ७—स्वर्गोपम। ८—अधीन। ९—भाषा। १०—पद्धति की जड़। ११—स्रोत। १२—कलाओं। १३—अंगों; अर्थात् संस्कृत भाषा ही उसकी रीति-नीति और गुण-वृत्ति का मूल है। १४—लिखित। १५—परंपरा।

साफ व शुस्ता[१] को कि करीब रोज़मर्रा-ए-दूं की है एख़्तयार किया। सिर्फ इस भाके में कहने से दो चीज़ माने हुए अव्वल यह कि तासीर[२] वतन याने दकन इसमें बाक़ी है क्या वास्ते कि अजदाद[३] पिदरी व मादरी इस आसी[४] के और सब क़ौम इसकी बीजापूरी हैं, दूसरे यह कि बाज़े अवज़ाय[५] इस मुहावरा के मेरे दिल में भाते नहीं। अज़ा जुमला[६] यह कि तज़्कीर[७] व तानीसे[८] फेल नज़दीक अहले दकन के ताबे[९] फ़ाअल[१०] है अगर यह मुज़क्कर[११] है तो वह भी मुज़क्कर है और अगर मुवन्नस[१२] है तो मुवन्नस। यह क़ायदा मुवाफिक क़ायदा अरबी के है कि सैयद[१३]-अल्सना[१४] है और कयास सही भी इसकी ताईद करता है। बर ख़िलाफ़ मुहावरा उर्दू के कि उसमें निस्बत फेल की मफ़ऊल[१५] की तरफ़ कर मुज़क्कर को मुवन्नस और मुवन्नस को मुज़क्कर कर देते हैं।" (वही, पृ० ४९-५०)

परदेशी उर्दू आगाह को भाती तो नहीं पर किसी प्रकार उन पर अपना रंग जमा ही लेती है और आगाह को कुछ उसकी सी करनी ही पड़ती है। उर्दू घर-बार छुड़ाकर आगाह को अपना दास न बना सकी; पर आज दक्खिनी है कहाँ! आगाह ने भी तो भाषा के प्रकरण में अरबी को ही प्रमाण माना है? परंतु दक्खिनी को उर्दू की सबसे बेढंगी बात जान पड़ती है उसकी क्रिया का कर्म के अनुसार रूप धारण करना। कभी डाक्टर राजेंद्रप्रसाद ने भी सम्मेलन से ऐसा ही कुछ कहा था और आज डाक्टर सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या भी कामकाजी अथवा बोलचाल की हिंदुस्थानी को इससे मुक्त करना चाहते हैं। अच्छा, यह तो विवाद वा विचार की बात ठहरी। यहाँ कहना यह था कि यदि दिल्ली के दौलताबाद उड़ बसने से दक्खिनी पैदा हो गई तो उसमें यह भेद कहाँ से आ गया। यह तो पूर्वी वा बिहारी की सुधि दिलाता है,

---

१—निखरा। २—प्रभाव। ३—पूर्वज। ४—दुखिया। ५—ढग। ६—इस वाक्य से। ७—पुल्लिगता। ८—स्त्रीलिंगता। ९—अधीन। १०—कर्त्ता। ११—पुल्लिग। १२—स्त्रीलिंग। १३—प्रमुख। १४—भाषा। १५—कर्म।

देहलवी की नहीं। बात यह है कि उर्दू की प्राचीनता सिद्ध करने के लिये दक्खिनी का जितना नाम लिया जाता है उतना उस पर विचार नहीं किया जाता। नहीं, यदि दक्खिनी का स्वतंत्र अध्ययन हो तो भाषा के क्षेत्र में कुछ और ही रहस्य खुलें।

दक्खिनी के विषय में भूलना न होगा कि श्रीमार्कंडेय कवींद्र (१५वीं शती ई०) उसके संबंध में (प्राकृतसर्वस्व में) लिखा है—

"द्राविडीमप्यत्रैव मन्यते। तथोक्तम्—

टक्कदेशीयभाषायां दृश्यते द्राविडी तथा।

तत्र चायं विशेषोऽस्ति द्राविडैराद्दतापरम् ॥इति॥" (षोडश पाद)

इधर भाषाशास्त्रियों ने दक्खिनी का जो लेखा लिया है वह मार्कंडेय के उक्त कथन के सर्वथा अनुकूल है। किंतु स्वयं दक्खिनी कवियों ने कभी टक्क वा टाकी का नाम नहीं लिया है। तो क्या मार्कंडेय का कथन सचमुच निराधार है? निवेदन है नहीं, दक्खिनी के प्रायः सभी पुराने लेखकों ने अपनी भाषा को गूजरी कहा है जिसका अर्थ उर्दू में गुजराती लगाया गया है। पर जैसा कि कहा जा चुका है, उनकी भाषा गुजराती से मेल नहीं खाती, हाँ, पंजाबी से अवश्य मिलती है। तो क्या उनकी गुजराती पंजाब के गुजरात से संबद्ध है?

जो हो, हम तो इस गूजरी को प्रत्यक्ष गुर्जरी का रूप समझते हैं। गुर्जरों के विषय में जो कहा गया है 'अपभ्रंशेन तुष्यन्ति स्वेन नान्येन गुर्जराः' उसका भी कुछ अर्थ है। उसे अब यों ही नहीं टाला जा सकता। 'गूजरी' तो हिंदी की नायिका ही बन गई है, फिर राष्ट्र-भाषा के प्रसंग में उसे कैसे छोड़ सकते हैं।

अच्छा, तो देखना यह है कि इस गूजरी का संस्कृत से क्या संबंध है, क्योंकि इस पर डटकर विचार किए बिना राष्ट्रभाषा का प्रश्न सुलझ नहीं सकता और प्रतिवादी मान नहीं सकते कि भारत की राष्ट्रभाषा संस्कृतनिष्ठ क्यों है। लीजिए वही मार्कंडेय स्पष्ट घोषणा करते हैं—

"संस्कृताढ्या च गौर्जरी" और 'च' की व्याख्या करते हैं "चकारात् पूर्वोक्तटक्कभाषाग्रहणम्।" (वही, अष्टादश पाद)

मार्कंडेय की भाँति शेषकृष्ण (१६ वीं शती) भी यही कहते हैं—
"आभीरिका प्रायिक भट्टकादि, कर्णाटिका रेफविपर्ययेण।
देशीपदान्येव तु मध्यदेश्या, स्याद्गौर्जरी संस्कृतशब्दभूम्नि॥"
(इं० ए० १९२३, पृ० ७)

'संस्कृतशब्दभूम्नि' एवं 'संस्कृताढ्या' से स्पष्ट है कि गौर्जरी संस्कृत-निष्ठ भाषा है। उधर उसकी सहेली टाक्की के बारे में कहा जाता है—

"टाक्को स्यात्संस्कृतं शौरसेनी चान्योन्यमिश्रिते। अनयोः सङ्करादित्यर्थः। इयं द्यूतकारवणिगादिभाषा।" (षोडश पाद)

मार्कंडेय के इस कथन की पुष्टि मृच्छकटिक की पृथ्वीधरी टीका करती है। उसमे आरंभ मे ही कहा गया है—"टक्कभाषापाठकौ माथुरद्यूतकरौ।"

तो 'टाक्की' के प्रसंग मे भूलना न होगा कि वह 'विभाषा' ही नहीं 'अपभ्रंश' भी है अर्थात् वह केवल वर्गभाषा ही नहीं देशभाषा भी है। फलतः टाक्की अपभ्रंश के विषय में शेषकृष्ण लिखते है—

"टाक्की पुरा निगदिता खलु या विभाषा
सा नागरादिभिरपि त्रिभिरन्विता चेत्।
तामेव टक्कविषये निगदन्ति टक्का-
पभ्रंशमत्र तदुदाहरणं गवेष्यम्॥" (वही, ६)

इस प्रकार हम देखते है कि गौर्जरी और टाक्की नागरापभ्रंश पर आश्रित हैं। अर्थात् गूजरी का रहस्य जानने के लिये टक्की एवं नागरी का भेद जानना अनिवार्य है। सो नाग॰ के संबंध में कहा गया है—

"अन्येषामपभ्रंशानामेष्वेवान्तर्भावः" (अष्टादश पाद)।

मार्कंडेय ने नागरापभ्रंश को अपभ्रंश भाषा का मूल कहा है और उसको महाराष्ट्री एवं शौरसेनी में प्रतिष्ठित माना है। जहाँ तक पता चला है, मार्कंडेय ने ही नागर का सर्वप्रथम उल्लेख किया है अन्यथा नमिसाधु (९वीं शती) भी उपनागर, आभीर और ग्राम्य ही तक रह गए हैं। विचार करने से प्रतीत होता है कि हेमचंद्र (१२ वीं शती) के तक अपभ्रंश नागर का पर्याय समझा जाता था; तभी तो उन्होंने

अपने प्राकृत व्याकरण में 'नागर' का नाम तक लिया और अप-भ्रंश का पूरा 'अनुशासन' कर दिया। हमारी धारणा है कि अपभ्रंश के लिये 'नागर' का व्यवहार बहुत पहले का है, कारण कि यदि ऐसा न होता तो नमिसाधु किस न्याय से उपनागर और ग्राम्य की कल्पना करते और स्वय आचार्य हेमचंद्र अपभ्रंश के साथ ग्राम्यापभ्रंश की जोड़ लगा देते। कहते हैं—

"अपभ्रंशभाषानिबद्धसन्धिबन्धमब्धिमथनादि, ग्राम्यापभ्रंशभाषानिबद्धावस्कन्धकबन्धभीमकाव्यादि।" (काव्यानुशासन, अ० ८)

'नागर' शब्द के आधार पर 'उपनागर' और 'ग्राम्य' का विधान हुआ अथवा ग्राम्य' के अधार पर नागर का, इसका समाधान अत्यंत सरल है, कारण कि हम पहले से ही जानते हैं कि आभीरादिगिरः को काव्य में अपभ्रंश कहा गया है जिसका संकेत प्रकट ही गुर्जराभीरादि जातियों की ओर है। गुर्जर, आभीर, नागर आदि के इतिहास में पैठने को समय नहीं, अतः संक्षेप मे जान लीजिए कि मानसरोवर के निकट हाटक स्थान से निकलकर नगर वा नागर जाति पहले नगरकोट में बसी और फिर धीरे धीरे सारे भारत में फैल गई। यहाँ तक कि कूर्ग और बंगाल में भी जा बसी[1]।

१—'It will be seen that there was a tribe or race called Nagar or Nāgar whose original seat was the country of Hatak situated near the Manasa Lake. It gradually migrated westward and southward. Its westward movement is indicated by such place names as Hunga-Nagas in Kashmir and Nagar on the Kabul river. Their first settlement southward was Nagar or Nagarkot, from where different class such as the Mitras and Duttas occupied such provinces as Panchal, Kosala, and Mathura from the second century B. C., to the second century A. D. There were followed by the Nagas, Guptas, and Varmans, who similarly held different parts of

नागर ज्ञाति के साथ इतना भटकने के उपरांत अब यह कहना शेष रहा कि वास्तव में गुर्जर, टक्क और नगरकोट पड़ोसी प्रांत हैं। नगर-कोट और कुछ नहीं कॉगडा वा त्रिगर्त ही है।

अच्छा, तो कश्मीर के प्रसिद्ध इतिहासकार कल्हण अपनी राज-तरंगिणी मे लिखते हैं—

"स गुर्जरजयव्यग्रः स्वपराभवशङ्किनम्।
त्रैगर्तं पृथ्वीचन्द्रं निन्ये तमसि हास्यताम्॥ १४४॥
उच्चखानालखानस्य संख्ये गूर्जरभूभुजः।
बद्धमूलां तृणाल्लक्ष्मीं शुचं दोर्घामरोपयत्॥ १४९॥
तस्मै दत्वा टक्कदेशं विनयादङ्गुलीमिव।
स्वशरीरमिवापासीन्मण्डलं गुर्जराधिपः॥१५०॥" (पंचम तरंग)

डाक्टर भडारकर ने जिन शासकों का उल्लेख नागर के विस्तार में किया है प्रायः उन सभी जत्थों की गणना 'शाहाने गूजर' [1] में गूजर के भीतर की गई है। यहाँ अब यह देखना रह जाता है कि इस दौड़ में टक्क कहीं किसी से पीछे तो नहीं रह गए। अपनी धारणा तो यह है कि वस्तुतः ठाकुर, ठक्कुर वा टगोर टक्क का ही अपभ्रंश है। डाक्टर भंडार

North India. Then came the Vardhanas, Palas and Senas who spread as far east as Bengal, whereas the Maitrakas, who were related to the old Mitras, as the Kadambas to the Kadambas or the Chaulukyas to the Chaulukyas, conquered Gujrat and Kathiawara Of course, these Nagar spread as far south as Nagarkhanda in Banvasi, but it is not clear whether they went on conquering or simply migrating. The spread of the Nagaras along the western coast as far as Coorg can easily be noted, but how they migrated to Bengal is far from clear.' (Indian Antiquary 1932. P. 70).

१—यह पुस्तक 'दारुल-मुसन्निफ़ीन' आजमगढ़ से उर्दू में प्रकाशित हुई है।

कर ने जितना ध्यान 'कायस्थ' और 'नागर' पर दिया है उसका दश-मांस भी यदि ठक्कुर' पर देते तो स्थिनि बहुत कुछ सुलझ जाती। कुर्ग में तो आज भी पंचायत 'टक्क' (वृद्ध) ही करते हैं और बंगाल में भी टाकी (चौबीस परगना में) स्थान है। ठक्कुर शब्द का प्रयोग केवल क्षत्रिय के लिये ही नहीं, अपितु कायस्थ और ब्राह्मण के लिये भी हुआ है। विद्यापति 'ठाकुर' का अवहट्ट प्रेम तो पुस्तक (कीर्तिलता) के रूप में प्रकाशित हो चुका है।

मध्य देश के गहड़वार शासक गोविदचंद्र के दानपत्रों में 'ठक्कुर' शब्द का व्यवहार खूब हुआ है। उनमें से एक में (एपिग्राफ़िका इंडिका भाग ४, पृ० १८४) "श्रीवास्तव्यकुलोद्भूतकायस्थ ठक्कुर श्रीजल्हणेन लिखितः" भी लिखा गया है। 'ठक्कुर' शब्द के अर्थ-विस्तार पर विचार करना है तो आवश्यक पर यहाँ संभव नहीं है; अतः संक्षेप में यहाँ कहा यही जाता है कि मूलतः यह टक्कनिवासी का द्योतक है। टक्क, ठक्क एवं ढक्क तीनों रूप संस्कृत में साथ साथ चलते रहे हैं। एक बात और। हमने कालिदास के दूतकर्म[1] पर अन्यत्र विचार किया है। उससे अवगत हो जाता है कि कामरूप पर उनका कितना ऋण है। हमारी समझ में चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के शासन में बंगाल में 'कायस्थ' (जाति नहीं) गए और उन्हीं के द्वारा वहाँ अपभ्रंश का प्रचार हुआ। इस प्रसंग में भूलना न होगा कि कालिदास ने प्रमत्त विक्रम के मुख से जो अपभ्रंश भाषा निकाली है उसका एकमात्र कारण यही है कि वास्तव में वही उसकी जन्मभाषा थी। हमारा मत है कि मेहरौली के लोहस्तंभ में जो 'धावेन' का प्रयोग हुआ है उसका अर्थ है धवदेश के निवासी के द्वारा, किसी अन्य 'चन्द्र' के द्वारा नहीं। सारांश यह कि गुप्त साम्राज्य में ही पहले पहल अपभ्रंश को महत्त्व मिला और वह देखते ही देखते विभाषा से काव्यभाषा बन चली।

अपभ्रंश को लेकर धीरे-धीरे हम इतनी दूर निकल आए कि बेचारी

१—इसका प्रकाशन 'कालिदास' शीर्षक ग्रंथ में 'विद्यामंदिर' ग्वालियर से हो रहा है।

'गूजरी' छूट ही गई। पर करें क्या, जब देखते हैं कि चारों ओर राष्ट्र भाषा के प्रचार का श्रेय मुगल सामन्तों वा मुसलमानों को दिया जाता है और भाषा के इतिहास पर प्रमादवश पानी डाला जाता है तब कुछ बीती बात उभारनी ही पड़ती है। आशा है कि इतने से ही स्पष्ट हो गया होगा कि इसलाम के लाहौर में बसने वा मुसलमानों के दिल्ली में जम जाने के बहुत पहले ही किस प्रकार अपभ्रंश का भारत भर में प्रचार हो गया था। अस्तु, अब उस भ्रम का भी मूलोच्छेद करना चाहिए जो किसी पढ़े-लिखे बाब को नागरी भाषा कहने से रोकता है और नागरी को सदा देवनागरी का ही पर्याय मानता है, कैथी का कभी नहीं।

यह तो खुली हुई बात है कि नागरी भाषा का प्रयोग स्वभावतः नागरापभ्रंश के लिये ही हो सकता है फिर भी न जाने क्या लोग नागरी भाषा से भड़कने लगे हैं; संघटित प्रचार में कितना बल होता है इसका एक प्रमुख प्रमाण यह भी है। यदि आप फोर्ट विलियम के आईन[1] को देखें तो पता चले कि उसमें नागरी भाषा और नागरी लिपि का व्यवहार हुआ है। लिपि तो उसकी प्रत्यक्ष कैथी ही है, पर कही गई नागरी ही है। क्यों ? बात यह है कि अभी नागरी और कैथी का घोर भेद खड़ा नहीं हुआ था और नागरी का अर्थ केवल देवनागरी ही न था। सच तो यह है कि उस समय नागरी के दो भेद अथवा उचित होगा, दो रूप चल रहे थे। उनमें से एक का प्रयोग तो ग्रंथों को शुद्ध शुद्ध लिखने के हेतु होता था और दूसरा व्यवहार (कचहरी) मे चालू था। नागरी के शुद्ध रूप का उपयोग संस्कृत के लिये अधिक होता था, अत. उसे देवनागरी का नाम दिया गया और नागरी सकुचाकर वहीं रह गई। आज तो कोई कभी कैथी को नागरी कह नहीं सकता, पर आज से सौ वर्ष पहले कैथी और नागरी में कोई वैर न था। कभी कायस्थ और नागर एक थे तो कभी कैथी और नागरी भी एक ही थीं, किंतु फिरंगियों की कृपा से क्या से क्या हो गया ? भेद-बुद्धि क्या नहीं कर सकती !

लिपि की बात तो यों ही, यह दिखाने के निमित्त कह दी गई कि

१—इसकी कुछ प्रतियाँ काशी के 'आर्यभाषा पुस्तकालय' में सुरक्षित हैं।

आप ताड़ सकें कि गत सौ सवा सौ वर्षों में भाषा के क्षेत्र में कितना गड़बड़झाला हुआ है और हम कैसे उसी गड़बड़झाले में उलझकर पंडिताई झाड़ रहे हैं और झाड़ बताते हैं अपने पूर्वजों को।

हाँ. तो देखिए यह कि डाक्टर जान मार्शल भारत में भ्रमण कर रहे हैं और नागरी भाषा पर लिख[1] भी रहे हैं कि वह संस्कृत से बहुत भिन्न नहीं है और उज्जैन नगरी के नाम पर नागरी बनी है।

प्रयाग विश्वविद्यालय के इतिहास-विभाग के अध्यक्ष सर शफात अहमद खाँ ने उनके ग्रंथ का संपादन किया है और उसके नागरी के प्रकरण को काट-कपटकर इतना कम कर दिया है कि वस्तुस्थिति का ठीक ठीक समझना कठिन हो गया है। परंतु फिर भी टाँकने की बात यह है कि डाक्टर मार्शल संस्कृत से इसे बहुत भिन्न नहीं पाते और कहते भी इस भाषा को नागरी ही हैं। इसकी निरुक्ति के विषय में वे जो कुछ कहते हैं वह भी निराधार नहीं है। हाँ, कुछ उलझा हुआ अवश्य है। नागरी का प्रथम प्रयोग उधर ही तो हुआ था ?

डाक्टर मार्शल ने (सन् १६६८ से ७२ ई०) आलमगीर औरंगजेब के शासन में नागरी भाषा के विषय में जो कुछ सुना-गुना उसे ही लिख दिया। वह प्रत्यक्ष ही संस्कृत के निकट और भाषा के साथ है। अब अँगरेजी शासन में विश्व-उजागर तबलीगी नेता ख्वाजा हसन निजामी देहलवी की वाणी सुनिए। वे तो पुकार कर कहते हैं—

"यह हिंदी जबान ममालिक[2] मुत्ताहदा[3] अवध और रुहेलखंड और सूबा बिहार और सूबा सी० पी० और हिंदुओं की अक्सर देसी रियासतों

१—"It (Naggary Language) is not very much diff ring from the Sinscreet (Sanskrit) This called Naggary (Nagari) from the name of a city which was called Urgin Naggary (Ujjain Nagari) about 1700 years since, which city is now called Bonarres." (John Marshall in India p. 423)

२—प्रान्त। ३—संयुक्त।

सतों में मुरव्वज[1] है। गोया बंगाली और बरमी और गुजराती और मरहठी वग़ैरा सब हिंदुस्तानी ज़बानों से ज़्यादा रिवाज हिंदी यानी नागरी ज़बान का है। करोड़ों हिंदू औरत मर्द अब भी यही ज़बान पढ़ते हैं और यही ज़बान लिखते हैं। यहाँ तक कि तक़रीबन[2] एक करोड़ मुसलमान भी जो सूबा यू० पी० और सूबा सी० पी० और सूबा बिहार के देहात में रहते हैं या हिंदुओं की रियासतों में बतौर रियाया के आबाद हैं और उनको हिंदू रियासतों के ख़ास हुक्म के सबब से हिंदी ज़बान लाज़मी[3] तौर से हासिल करनी पड़ती है, हिंदी के सिवा और कोई ज़बान नहीं जानते।" (कुरानमजीद के हिंदी अनुवाद की भूमिका)

अच्छा तो यह भूमिका ५ नवम्बर सन् १९२९ को लिखी गई। इसीसे इसमें थोड़ी सी सचाई भी आ गई है नहीं तो अब कौन मुसलमान ऐसा लिख सकता है? इसमें भी 'अब भी' 'बतौर रियाया' तथा 'हिंदू रियासतों के खास हुक्म के सबब' से जो काम लिया गया है वह भुलाने के योग्य नहीं है। इसमें उर्दू का तो कहीं नाम तक नहीं आया है पर विवशता के कारण माना यही गया है कि 'हिंदी यानी नागरी ज़बान' ही हिंद वा हिंदुस्तान की राष्ट्रभाषा है, कुछ हिंदी यानी हिंदुस्तानी वा उर्दू नहीं। तो क्या हिंदी के अभिमानी अब भी अचेत ही रहेंगे और नागरी का व्यवहार भाषा के अर्थ में न करेंगे?

डाक्टर मार्शल ने नागरी का संबंध जो उज्जैन से जोड़ा है उसका भी कुछ कारण है। नागरी भाषा एवं नागरी लिपि का विकास किस ढब से हुआ इसकी एकाध झलक भी मिल जाय तो बहुत समझिए अन्यथा भागते समय से कितना छीना जा सकता है? लीजिए एक विदेशी मुसलिम भी, जो सुल्तान महमूद गजनवी का समयुगी है, आपके पक्ष में बोल रहा है। वह कहता है—

"मालवा के हुदूद[4] में एक ख़त[5] जारी है जिसको नागर कहते हैं और इसी के बाद अर्द्धनागरी ख़त है यानी आधा नागर क्योंकि यह ना॰॰

१—प्रचलित। २—लगभग। ३—अनिवार्य। ४—सीमा। ५—लिपि।

अर दूसरे खतों से मिला-जुला है और यह भातिया और कच्छ सिंध में मुरव्वज है। इसके बाद मलवारी खत है जो मल्शा यानी जनूबी[1] सिंध में रायज है।" (नुकूशे सुलैमानी, जामिया मिल्लिया देहली सन १९३९ पृ० २३)

कहना न होगा कि अबू रैहाँ बेरूनी ने 'नागर' और 'अर्द्धनागरी' लिपि का जो क्षेत्र बताया है वह अपभ्रंश का ही क्षेत्र है इसी का यदि हम अपने यहाँ के ढंग पर कहना चाहें तो सरलता से कह सकते है कि नागरी नागरापभ्रंश की लिपि है तो अर्द्धनागरी ब्राचड़ की। कारण कि श्री मार्कंडेय का कहना है—

"सिन्धुदेशोद्भवो ब्राचडोऽपभ्रंशः। अस्य च यत्र विशेषलक्षणं नास्ति तन्नागरात् ज्ञेयं।" (अष्टादश पाद)

अल्बेरूनी ने उसी ग्रंथ (किताब उल् हिंदी) में भाषा के भी दो रूपो का उल्लेख किया है। उसने एक को तो शिष्ट, व्यवस्थित और समृद्ध माना है पर दूसरे के बारे में वह कहता है कि उसकी अवहेलना होती है और उसका कोई व्याकरण भी नहीं है। संभवतः इस उपेक्षित भाषा से उसका तात्पर्य अपभ्रंश से ही है। उसने अपनी पुस्तक में जो हिंदी शब्द दिए हैं वे अपभ्रंश के ही प्रतीत होते हैं। सारांश यह कि अल्बेरूनी की गवाही से भी यही सिद्ध होता है कि वस्तुतः नागरी और कुछ नहीं नागर भाषा और नागर लिपि ही है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि गुर्जरप्रतिहार शासकों ने मध्यदेश में नागरी का प्रचार किया और अपने उत्कीर्ण लेखों में उसका उपयोग किया। थोड़े मे इतना ही पर्याप्त है कि नागरी भाषा और नागरी लिपि का प्रचार साथ साथ हुआ। 'नागर किस प्रकार समूचे देश में फैल गये इसका संकेत पहले हो चुका है। उन्हीं के उद्योग से उनकी भाषा भी देशव्यापक हुई और उनकी लिपि भी।

नागरी का नाम लेते लेते एक बार फिर गुर्जर और टक्क सामने

१-दक्षिणी।

आ गए। कारण कि नागरी का सबसे प्राचीन उपलब्ध रूप गुजरात के गुर्जरवंशी राजा जयभट्ट (तृतीय) के कलचुरि सं० ४५६ (ई० सं० ७०६) के दानपत्र के हस्ताक्षर—'स्वहस्तो मम श्रीजयभट्टस्य'—में प्राप्त होता है और टाकरी लिपि के साथ टक्क का लगाव है ही। भाषा के प्रसंग में टक्क का जो हाथ रहा है, लिपि के साथ भी वही काम करता है। देखिए न, पुराविद् कनिंघम साहब किस उल्लास से निष्कर्ष निकालते और अपनी कह सुनाते हैं। उनका कहना है कि प्राचीन नागरी लिपि जिसका व्यवहार बमियान से लेकर यमुना तट तक समान रूप से सब में और सर्वत्र हो रहा है टक्कों के द्वारा बनी और टाकरी कही जाती है।[1]

'टाकरी' की भाँति 'गुर्जरी' वा 'गूर्जरी' लिपि का प्रयोग भी पाया जाता है पर कहीं उसके साथ ही साथ 'नागरी' का भी उल्लेख देखने मे नहीं आया जिससे प्रतीत होता है कि गूर्जरी लिपि भी नागरी का ही एक रूप है। कैथी के संबंध में पहले कहा जा चुका है कि कैथी को भी पहले नागरी ही कहते थे—कैथी और नागरी का द्वंद्व तो बहुत इधर का है। देवनागरी और कैथी नागरी का भेद फिरंगियों का खड़ा किया हुआ हो तो इसमे तनिक भी आश्चर्य नहीं। इस देव से उर्दू कितनी भड़कती है इसके कहने की आवश्यकता नहीं। यह तो प्रतिदिन के अनुभव की बात है।

१—"The former importance of this race is perhaps best shown by the fact that the old Nagari characters, which are still in use throughout the whole country from Bamiyan to the banks of the Jamuna, are named Takari, most probably because this particular form was brought into use by the Taks or Takkas. I have found these character in common use under the same name amongst the grain dealers to the west of the Indus, and to the east of Satlej, as well as amongst the Brahmans of Kahsmir and Kangra." (The Ancient Geography of India, 1924 P. 175)

राष्ट्रभाषा और राष्ट्रलिपि का जो लेखा लिया गया है वह टंकार कर कह रहा है कि सचमुच भारत की राष्ट्रभाषा नागरी और राष्ट्रलिपि भी नागरी ही है, किंतु देश के दुर्भाग्य और राष्ट्र के दुर्दैव से हमारे कुछ देवता फरमाते हैं, "नहीं, राष्ट्रभाषा का नाम हिंदुस्तानी और राष्ट्रलिपि जो हो सो हो; उर्दू और हिंदी दोनों"। तभी तो अपना भी कहना है कि 'दुविधा में दोनो गए माया मिली न राम'। हाँ, घबड़ाइए नहीं, चुपचाप खाले खाले हिंदुस्तानी का ऊँट चराते रहिए, फिर देखिए वह किस करवट बैठता है।

अच्छा, अभी तक तो आप हिंदुस्तानी भाषा का ही नाम सुनते आ रहे थे पर आज आपको जताया जाता है कि अब हिंदुस्तानी लिपि भी मैदान में आ चुकी है और वह शीघ्र ही राष्ट्रलिपि घोषित होनेवाली है। चकराने की बात नहीं, एक न एक दिन, उर्दू की भाँति ही अरबी लिपि भी हिंदुस्तानी का पर्याय होकर रहेगी। अरे, कहने सुनने और बार बार चिल्लाने से क्या नहीं 'आम' हो जाता? और सो भी जब कि रेडियो भगवान सहस्र फण से उर्दू के लिये बोलने को बीड़ा उठाए बैठे है और प्रति घड़ी किसी न किसी हिंदी शब्द को निगल रहे हैं।

नहीं मानेंगे? लीजिए तो 'हिंदुस्तानी रस्मखत' भी तैयार है। हिंदुस्तानी के कर्णधार राष्ट्रभक्त अल्लामा सैयद सुलैमान नदवी का हिंदुस्तानी (?) मरसिया है—

"सन् १८६७ ई० में बिहार बंगाल की गवर्नमेंट ने हिंदी को दफ्तरों का खत क़रार दिया और इसी असना[1] में यहाँ बंगाल की हमसायगी[2] के असर से अँगरेजी तालीम को रोज़अफज़ूँ[3] तरक्क़ी होती गई तो इस (जबान उर्दू) पर इस सूबा में मुरदनी छा गई। अदालतों और दफ्तरों की जरूरत से कौन आजाद है? हिंदी रस्मखत ने अवाम[4] हिंदुस्तानी रस्मखत की जगह लेनी शुरू की और ख़वास[5] में, जो दिन पर दिन अँगरेजी तालीम पर मिटे जाते थे, देसी जबान की वक़अत[6] घटती चली गई।" (नुक़ूशे सुलैमानी, पृ० २६०)

१—बीच। २—पड़ोस। ३—अधिक। ४—सामान्यों। ५—विशिष्टों। ६—प्रतिष्ठा।

हिंदुस्तानी रस्मखत का अर्थ आप ही करें, हमें तो बस इतना भर कह देना है कि हम इस हिंदुस्तानी को पाषंड की ध्वजा अथवा पंचवटी की सूपनखा समझते हैं और इसी से इसके कपट-रूप से सबको सचेत कर देना अपना परम कर्तव्य समझते हैं। स्वयं कंपनी सरकार के विधान हमारे सामने हैं और सामने है वह विवरण जो कंपनी सरकार की ओर से घर घर और गाँव गाँव से लियो गया था डाक्टर एफ बुचनन के द्वारा सन १८०७ और १६ ई० के बीच में।

सुनिए पहले कंपनी सरकार का आईन डुग्गी पीटकर बोलता है—

"किसी को इस बात का उजुर नहीं होऐ के ऊपर के दफे का लिखा हुकुम सभसे वाकीफ नहीं है हरी ऐक जिले के कलीकटर साहेब को लाजीम है के इस आइन के पावने पर ऐक ऐक केता इसतहारनामा निचे के सरह से फारसी वो नागरी भाखा वो अछर में लीखाऐ कै अपने मोहर वो दस्तखत से अपने जिला के मालीकान जमीन वो ईजारेदार जो हजुर मे म लगुजारी करता उन सभों के कचहरि मे वो अमानि महाल के देसि तहसीलदार लोग के कचहरी लटकावही।" (अँगरेजी सन १८०३ साल ३१ आईन ४० दफा)

'नागरी भाखा वो अछर' पर ध्यान देना चाहिए और यह स्मरण रखना चाहिए कि नागरी लिपि ही नहीं भाषा भी है और नागरी लिपि' का अर्थ यहाँ कैथी लिपि ही है। रही उस लिपि की बात जिसे जनाब सैयद साहब 'हिंदुस्तानी रस्मखत' कहते हैं उसका 'हिन्दुस्तानी' से विहार मे अभी कोई लगाव ही नहीं। क्या सैयद साहब अथवा उनके हमजोली विहार के किसी भी सरकारी आईन मे हिंदुस्तानी भाषा और फारसी लिपि का विधान दिखा सकते हैं? नहीं, यह तो असंभव है, बस उनके लिये संभव है आँख मूँदकर अँगरेजी को कोसना और गला फाड़कर नागरी पर लानत लाना। परंतु, कपनी सरकार को जो करना था कर गई और डाक्टर बुचनन साहब को जो लिखना था लिख गए। उर्दू अब उनको मिटा तो सकती नहीं। हाँ, तिकड़मबाजी से अँगरेजी को धमका और नागरी को ठग अवश्य सकती है। हाँ तो

डाक्टर बुचनन का फैसला है कि फारसी लिपि का व्यवहार कहीं हिंदुस्तानी के लिये नहीं होता जो मेरी जान से केवल बोली है।[1]

डाक्टर बुचनन के वचन की सत्यता उस समय के सभी कागद पत्रों से सिद्ध हो जाती है, अतः उसके संबंध में और न कह यहाँ इतना ही संकेत कर देना पर्याप्त है कि बिहार के मुसलमान प्रायः परस्पर बात-चीत में हिंदुस्तानी की अपेक्षा अवधी का ही कहीं अधिक व्यवहार करते है। यह भी एक ऐसा घोर सत्य है जिसकी उपेक्षा हो नहीं सकती, और उर्दू के प्रसार का श्रेय बिहार को नहीं दिया जा सकता। परंतु 'हिंदुस्तानी रस्मख़त' के इस प्रयोग ने इतना तो स्पष्ट ही कर दिया कि हिंदुस्तानी की छाप से किस चहेती का सिक्का चल रहा है। इतने पर भी जो लोग हिंदुस्तानी हिंदुस्तानी चिल्ला रहे हैं उनकी बुद्धि को क्या कहा जाय ? हिंदुस्तानी तो उन्हें डुबाकर ही छोड़ेगी।

प्रायः लोग कहा करते हैं कि हिंदुस्तानी की चिंता क्यों की जाय ? वह तो बिना खर की आग की भाँति आप ही भभककर बुझ जायगी और हम राष्ट्र के मार्ग के रोड़े भी न कहे जायँगे। ठीक है, परंतु हिंदु-स्तानी को ईंधन की कमी नहीं है। सारी राष्ट्रीयता उसी में झोंकी जा रही है और वह उसी प्रकार देश में फैलाई जा रही है जिस प्रकार कभी उर्दू फैलाई गई थी। कोई भी बनावटी भाषा किस प्रकार साहित्य की भाषा बनाई जाती है इसका सब से बढ़िया नमूना उर्दू ही है। उर्दू मुहम्मदशाह रँगीले के शासन में किस प्रकार बनी, इसका संकेत पहले किया जा चुका है। यहाँ उसकी प्रचार-कला पर ध्यान दीजिए। नवाब सैयद नसीर हुसैन खाँ 'ख़याल' ने स्पष्ट लिख दिया है—

१—The Persian character is not used for writing the Hindustani Dialect, which so far as I can learn is entirely colloquial (Eastern India, Vol I, London, 1838, p. 448)

"उमदतुलमुल्क ने और उमरा के मशविरा[1] से देहली में एक उर्दू अंजुमन क़ायम की। उसके जलसे होते। ज़बान के मसले छिड़ते। चीज़ों के उर्दू नाम रक्खे जाते। लफ्ज़ो और मुहावरों पर बहसें होतीं और बड़े रगड़ों-झगड़ों और छानबीन के बाद अंजुमन के दफ्तर में वह तहक़ीक़शुदा[2] अल्फ़ाज़ व मुहावरात क़लमबंद होकर महफ़ूज़ किए जाते। और बकौले साहबे सियरुल्मुताख़रीन इनकी नक़लें हिंद के उमरा व रूसा[3] पास भेज दी जातीं और वह इसकी तक़लीद[4] को फ़ख्र जानते और अपनी अपनी जगह उन लफ्ज़ों और मुहावरों को फैलाते।"
(मुग़ल और उर्दू, पृ. ६०)

मौलाना अबुल कलाम आज़ाद जो महात्मा गांधी का कान भरते और डाक्टर मौलवी अब्दुल हक़ जो डाक्टर राजेंद्रप्रसाद के पीछे पड़ते हैं उसका एकमात्र रहस्य यही है कि कोई ठ क ऐसी ही अंजुमन बने जो उर्दू की भाँति ही हिंदुस्तानी (हिंदुस्थानी नहीं उर्दू) का प्रचार करे और अपना घर 'हिंद के उमरा व रूसा' की जगह हिंद के बालकों, बालिकाओं वा छात्रों को बनाए। किंतु उक्त अंजुमन का परिणाम क्या हुआ? यही न कि उर्दू देशद्रोह को लेकर आगे बढ़ी और सर्वथा विलायती बन गई। सुनिए शम्सुलउल्मा मौलाना मुहम्मद हुसैन आज़ाद सा मर्मज्ञ कहता है—

"उर्दू के मालिक उन लोगों की औलाद थे जो असल में फ़ारसी ज़बान रखते थे। इस वास्ते उन्होंने तमाम फारसी बहरें[5] और फारसी के दिलचस्प और रंगीन ख़यालात और अक़साम[6] इंशापरदाज़ी[7] का फोटोग्राफ फारसी से उर्दू में उतार लिया। तआज्जुब यह है कि उसने इस क़दर ख़ुशअदाई[8] और खुशनुमाई[9] पैदा की कि हिंदी भाषा के ख़यालात जो ख़ास इस मुल्क के हालात के बमोजिब[10] थे उन्हें भी मिटा दिया। चुनांचे खास व आम पपीहे और कोयल की आवाज़ और चंपा और

१—परामर्श। २—परिशोधित। ३—रईसों। ४—अनुकरण। ५—छंद। ६—प्रकार। ७—लेखन-कला। ८—सुव्यंजना। ९—सुशोभा। १०—अनुरूप।

चंबेली की .खुशबू भूल गए ; हज़ारा. बुलबुल और नसरन व संबुल जो कभी देखी भी न थीं, उनकी तारीफ करने लगे। रुस्तम और अस-फ़ंदयार की बहादुरी, कोह[1] अलवंद और बीसतून की बलंदी, जैहूँ सैहूँ की रवानी[2] ने यह तूफ़ान उठाया कि अर्जुन की बहादुरी, हिमालय की हरी हरी पहाड़ियाँ, बर्फ़ से भरी चोटियाँ और गंगा जमुना की रवानी को बिल्कुल रोक दिया।" । नज़्मे आज़ाद का दीबाचा, पृ० १४)

अस्तु, अर्थ की दृष्टि से तो उर्दू मे यह परिवर्तन हुआ कि उसमें कहीं हिंदीपन रह ही न गया और गिरा की दृष्टि से भी उसकी कुछ ऐसी रुचि हुई कि हिंदी पूरबियो की भाषा समझी गई और दक्खिनी भी तुच्छ समझी गई। मौलवी मु० बाकर आगाह को उर्दू भाती नहीं थी किंतु उन्हीं के शिष्य मौलाना 'नामी' की, उर्दू के प्रचार से, दशा यह है कि उनको अपनी जन्मभाषा में मज़ा ही नहीं आता और किस बेहयाई से कह जाते है—

"है इस मसनवी की ज़बाँ रेख़ता अरब और अजम[3] से है आमेख़ता[4]।
नहीं सिर्फ़ उर्दू मगर है अयाँ[5], ज़बाने सुलैमान हिंदोस्ताँ।
अगर बोलता ठेठ हिंदी कलाम, तो भाका था वह पुरबियों का तमाम।
ज़बाने दकन में नहीं मैं कहा, कि है वह ज़बाँ भी निपट बेमज़ा[6]।"
(मद्रास में उर्दू, पृ० ७५)

सारांश यह कि अब उक्त उर्दू-अंजुमन की कृपा से देश में वह समय आ गया जब दरबार की बानी उर्दू हो गई और क्या भाषा और क्या भाव सभी विलायती हो गए। यहाँ तक कि 'अब उस्ताद मीर को भी 'फारसी तबीयत'* से हिंदी शेर कहना पड़ा और उस्ताद सौदा ने तो जोश में आकर यह घोषणा ही कर डाली—

"गर हो कशिशे[7] शाहे .खुरासान तो सौदा.
सिजदा न करूँ हिंद की नापाक ज़मीं पर।"

१—पहाड़। २—गति। ३—ईरान। ४—मिश्रित। ५—प्रकट। ६—स्वादरहित। ७—खिंचाव।

*तबीयत से फ़ारसी की जो मैंने हिंदी शेर कहे।
सारे तुरुक बच्चे ज़ालिम अब पढ़ते हैं ईरान के बीच।

कहाँ तो वह दिन था कि अलाउद्दीन खिलजी के दरबार में अमीर खुसरो हिंद को बहिश्त कह जाते थे और कहाँ उर्दू के कारनामों से वह दिन आ गया कि हिंद नापाक हो गया और वहाँ सिजदा करना भी कुफ्र समझा गया! फिर भी यदि यही उर्दू सर तेजबहादुर सप्रू की मादरी जबान और नापाक हिंद की मुल्की जबान है तो हमें विवश हो कहना पड़ेगा कि अब राष्ट्रीयता की खोज के लिये 'खिस्तर का झाड़ा चाहिए'। ऐसे तो वह उर्दू में कहीं नजर नहीं आती। स्मरण रहे, यह वह पुण्यभूमि है जहाँ उर्दू के बाबा आदम को शरण मिली थी और वह लोक है जिसके लिये देवता भी तरसा करते हैं। सौदा और जिन्नाह यदि इसे नापाक समझते और पाक करने की चिंता में है तो पहले अपने दिमाग़ में इसलाम की सूई लगवा लें और फिर कहें कि अल्लाह का आदेश क्या है और क्या है किसी काजी का फतवा। नहीं, उर्दू का पाकिस्तानी चल नहीं सकती हाँ हत्या केवल राष्ट्र का खेत भले ही खाती रहे।

उर्दू जन्म से ही जिस अभारतीयता को लेकर उठी है वह उसके रोम रोम में इतनी समा चुकी है कि अब उसके भारतीय होने की कोई संभावना नहीं और यदि है भी तो भी तब तक नहीं जब तक वह फिर नागरी की राष्ट्रभूमि पर नहीं आती। उर्दू इसलाम और इसलामी अदब का नाम व्यर्थ लेती है। अन्य देशों की बात छोड़िए। यहीं, भारत के सूफियों ने जिस धर्म का प्रचार, जिस मात्रा में, देश-भाषा वा हिंदी के द्वारा किया है वह उर्दू में कहाँ है? जो लोग हिंदी-उर्दू का द्वंद्व देखना नहीं चाहते और सचमुच राष्ट्र का उद्धार और उदय चाहते हैं उन्हें उर्दू की प्रवृत्ति में परिवर्तन करना ही होगा। यदि उनकी समझ में हिंदुस्तानी का लटका इसके लिये काफी है तो इस काफी का जाप करते रहें। परंतु गत वर्षों का कटु अनुभव तो इसी पक्ष में है कि हिंदुस्तानी का टुकड़ा हिंदी और उर्दू को लड़ाने के लिये ही फेंका गया है। निदान कहना पड़ता है कि इस मोहिनी का परित्याग तुरत हो जाना चाहिए और राष्ट्रभाषा में राष्ट्रहृदय का स्वागत होना चाहिए।

यदि लिपि की दृष्टि से देखा जाय तो नागरी लिपि के सामने उर्दू-लिपि ठहर ही नहीं सकती। भारत को अरबी लिपि का अभिमान कैसे हो सकता है और देश की अन्य लिपियों से उसका क्या लगाव है? रही नागरी, सो उसके विषय में सभी जानकारों का कहना है कि विश्व की कोई भी लिपि अपने वर्तमान रूप में उसके तुल्य नहीं। यही नहीं, भारत की सभी लिपियों से उसका गहरा संबंध है। कहाँ तक कहें, अरबी लिपि के कुछ पश्चिमी प्रदेशों को छोड़कर समस्त एशिया पर उसका प्रभाव है और बौद्ध जगत् तो मुक्त कंठ से इसे अपनाता ही है। भारत की सभी लिपियों की वर्णव्यवस्था एक है, सभी एक ही की संतान हैं और सभी प्रांतों में नागरी का कुछ न कुछ प्रचार भी है। तात्पर्य यह कि राष्ट्रलिपि के विचार से उर्दू की लिपि को कोई स्थान [illegible] बार बार और भाँति भाँति से सुझाते [illegible] और सारे मुसलिम लोक की लिपि है उनसे निवेदन यह है कि कैथी उर्दू शिकस्ता से भी शीघ्र लिखी तथा पढ़ी जाती है। अवसर हो तो परीक्षा करें अन्यथा स्व० सर जार्ज ग्रियर्सन के निर्णय पर ध्यान दें और देखें कि उस बूढ़े का अनुभव क्या है। वह स्वयं कहता है कि मधुवनी (विहार) में एक ऐसा लेखक था जो कैथी को किसी भी फारसी के सिद्ध लेखक की फ़ारसी से शीघ्र, सुबोध और स्वच्छ लिख लेता था।[१]

अरबी लिपि में लिखी हुई प्राचीन पुस्तकों को पढ़ने का जिसे तनिक भी अवकाश मिला होगा वह कभी भी उसका नाम न लेगा और न

---

१ "There was a clerk in my office in Madhubani, who could write excellent Kaithi more quickly than even the most practised of the old "persian" muharrirs. Besides the speed with which it can be written, it has the advantage of thorough legibility." (An Introduction to the Maithili Dialect, Calcutta, A. S. Bengal part I, p 1)

नाम लेगा कभी वह मुसलमान भी जिसे अपने अभ्युदय एवं अपने देश के कल्याण का ध्यान होगा। तुर्कों ने जो कुछ किया है सब पर प्रकट है। फिर समझ में नहीं आता कि किस मुँह और किस न्याय से अरबी लिपि को 'हिंदुस्तानी रस्मखत' बताया जा रहा है और उसी को भारत की राष्ट्रलिपि बनाने का सरफोड़ प्रयत्न हो रहा है। हो, पर उसकी तभी तक सुनी जायगी जब तक राष्ट्र अंधा अथवा चिर सुहागिन हिंदुस्तानी का दास है। जहाँ उसकी आत्म-चेतना जगी, उसने दूर से इसे नमस्कार किया और फिर नागरी का हो रहा। रोमी लिपि की चर्चा विद्वानो को शोभा दे सकती है किंतु कर्मशील राष्ट्रभक्तों को उससे क्या काम ? उन्हें तो अपनी नागरी को ही सर्वप्रिय बनाना है। बालबोध के लिये विश्व में नागरी से बढ़कर कोई लिपि नहीं। वह आर्यशक्ति की अमर पताका और अमर वाणी की लिपि है। उसकी लीपा-पोती से राष्ट्र का विनाश होगा, मंगल नहीं। सभी तरह से पूर्ण होने के पहले, उचित होगा अपने अपूर्ण अंगों को भी उतना ही पूर्ण बनाना। यदि किसी एक ही अंग की पूर्णता से स्वराज्य मिलता तो भारत कभी परतंत्र न रहता। नहीं, समांग ही स्वराज्य का अधिकारी होता है। भारत की राष्ट्रभाषा और सच्ची राष्ट्रभाषा वही देशभाषा हो सकती है और है भी जो समांग नहीं तो समांगता को लिए हुए अवश्य है। यही तो कारण है कि हम नागरी को राष्ट्र की वाणी कहते हैं और उसकी लिपि को ही राष्ट्रलिपि मानते हैं, कुछ अहिंदी उर्दू जबान वा उर्दू खत को नहीं।

नहीं, राष्ट्रभाषा का प्रश्न हम हिंदी-भाषा-भाषियों के लिये जीवन-मरण का प्रश्न है। हम यह प्रायः देखते है कि राष्ट्रभाषा का प्रश्न हमारी देश-भाषा को चरता जा रहा है। हम तो अन्य भाषाभाषियों की भाँति अपनी परंपरा को पनपाना और सभी देशभाषाओं के साथ ही आगे बढ़ना तथा राष्ट्र के उद्धार मे लीन होना चाहते हैं पर बीच ही मे न जाने कहाँ से यह वाणी सुनाई पड़ जाती है कि नहीं तुम्हें तो हिंदुस्तानी को अपनाना होगा। हम उर्दू को जानते, मानते और पहचानते भी हैं और इसी से उससे भयभीत भी नहीं होते। हमारा विश्वास है कि जैसे काल पाकर

उमंग में क्या करने जा रहे हो और विश्व के मनीषी कहाँ तक तुम्हारे साथ हैं जो इस प्रकार अंगद का पद रोपकर स्वराज्य लेने जा रहे हो। पंडित जवाहरलाल जैसे कर्मशील त्यागी वीर व्यक्ति का सहयोग एक उबाल की भाँति आकर वहीं का वहीं रह जायगा और अंत में स्वयं भी उसी सनातन धारा का अंग होकर रहेगा। सच पूछिए तो आज जो इतना संघर्ष चल रहा है उसका मूल कारण अपने अतीत से अनभिज्ञ होना ही है। यह बहुत ही ठीक कहा गया है कि परंपरा को छोड़ना आत्महत्या करना है। किसी राष्ट्र के जीवन में परंपरा का जो महत्त्व होता है उसकी अवहेलना हो नहीं सकती। यदि प्रमादवश आपने उसका परित्याग कर दिया तो आप कहीं के न रहे और या तो किसी अन्य परंपरा के अंधभक्त बन गए अथवा आप के व्यक्तित्व का लोप हो गया और आप किसी बवंडर के पात हुए। जहाँ कहीं देखिए जब किसी राष्ट्र को संकट का सामना करना पड़ा है तब उसने अपने अतीत का स्मरण किया है और अपने पूर्वजों का बल माँगा है। पशु और मानव में सबसे बड़ा भेद यही तो है कि पशु की परंपरा का बोध पशु को नहीं और मानव को अपने अतीत का अभिमान और अपनी परंपरा का गर्व है। भारत के मुसलमानों ने अपनी परंपरा को खो दिया, अपनी आत्मीयता को मिटा दिया और ग्रहण किया ईरानी-तूरानी परंपरा को। परिणाम क्या हुआ? यही न कि हिंदू से बना हुआ मुसलमान कभी राज्य न कर सका यद्यपि था वह राजवंश का ही और तैमूर की अभिमानी संतान, 'चकत्ता का विलायती घराना' राज भोगता रहा। किंतु हुआ क्या? कालचक्र के प्रभाव से भारतीयता जगी और वह विदेशी राज्य ऐसा भगा कि आज तक उसका पता नहीं। अकबर की नीति चलती तो यह घराना ऐसा न मिटता कि कहीं उसका नाम तक नहीं रहता। आज के प्रतिष्ठित राजवंशों में चाहे जितने विदेश से कभी आए हों पर वे विदेशी नहीं रहे और सभी प्रकार से इस देश की परंपरा, इस राष्ट्र के अतीत के अभिमानी बने। फलतः आज तक जीवित हैं और अपनी भारतीयता का झंडा

फारसी ने अपनी रक्षा पर आने के लिये उर्दू का चोला धारण किया वैसे ही कभी उर्दू भी समय देखकर अपना यह विदेशी बुरका उतार फेंकेगी और फिर अपने स्वच्छ, निर्मल, पुराने नागरी रूप में आ जायगी। फिर तो हमारा उसका सारा द्वंद्व मिट जायगा और नागरी-साहित्य सचमुच नागरों का मुँह माँगा साहित्य बन जायगा। हमारी भाषा में अरब, ईरान तूरान तो न बोलेगा पर हम ईरान-तूरान के सार को खींच लेंगे और वह ईरानी शैली भी हमारे साहित्य की छबि उतारेगी। पर हम इस हिंदुस्तानी को नहीं समझ पाते। हम महात्मा गांधी को पढ़ते हैं, हम काका कालेलकर को सुनते हैं और न जाने किस किस की बात मे उलझते है पर सच कहते है किसी को गहरे पानी में पैठकर हिंदुस्तानी का रत्न निकालते नहीं पाते। हाँ, बरबस पानी पीटते अवश्य देखते हैं। निदान उन सभी महानुभावों से हमारा सत्यानुरोध है कि कृपया वे इसे भूल न जायें कि हिंदी राष्ट्रभाषा हो चाहे भले ही न हो पर वह उस बड़े भूभाग की भाषा अवश्य है जिसे कभी आर्यावर्त फिर हिंद वा हिंदुस्थान और आज परमात्मा जाने क्या कहते है। अस्तु हमे भी उसी प्रकार इस भूभाग पर फलने-फूलने, उठने-बैठने और इधर-उधर विचरने का वही अधिकार प्राप्त है जो किसी को अपनी जन्मभूमि पर होता है। यदि आप सचमुच इस भूभाग की भाषा को राष्ट्रभाषा बनाना चाहते है तो कृपया कष्ट कर देखे कि वह किस साहित्य मे किस वाणी से बोल रहा है, अन्यथा आप जैसी कामकाजी राष्ट्रभाषा चाहें गढ़े और जो कुछ बन पड़े हमसे भी कर लें पर कभी भूलकर भी हमारी वाणी के विधाता न बनें; हमसे जो कुछ हो सकेगा राष्ट्र-साहित्य का निर्माण करेंगे और प्रांतीयता से दूर हो राष्ट्र-दृष्टि से अपनी भाषा का विकास करेंगे, क्योंकि यही हमारी परंपरा और यही हमारा सनातन धर्म है।

परंपरा के प्रतिकूल जो नवीन धारा बड़े वेग से बह रही है और अतीत को मटियामेट कर ही आगे बढ़ना चाहती है उससे हमें केवल इतना ही कहना है कि ठहरो, चेतो, और देखो तो सही किस

फहरा रहे हैं। बाहर देखना हो तो अमेरिका और इंगलैंड को ले लीजिए। आज तो अमेरिका के मूल-निवासी किसी योग्य नहीं पर क्या कोई कह सकता है कि अमेरिका स्वतंत्र नहीं ? उसकी विचार-धारा अँगरेजी की नकल है ? नहीं, ऐसा हो नहीं सकता। यदि भारत का उद्धार होना है तो उसकी राष्ट्रभाषा भी वही होगी जो आदि-काल से उसकी वाणी रही है और उसके उत्थान-पतन, दुःख-सुख को बराबर देखती रही है। हम यह नहीं कहते कि उर्दू को अपनी परपरा का अभिमान नहीं, है और बहुत गहरा है। पर वह अभिमान अपना नहीं, अपने देश का नहीं, हाँ अपने देश के आततायियों का अवश्य है। उर्दू को सिकंदर का अभिमान है पर ईरान को नहीं। बस, यही है वह मूल-मंत्र जो बताता है वह मार्ग जिस पर चलकर कोई राष्ट्र अभ्युदय को प्राप्त होता और अपने आपको विश्व में सजीव पाता है।

प्रसन्नता की बात है कि भारतीय ईसाई सचेत हो उठे है और आज भली भाँति इस बात का अनुभव कर रहे है कि उनका तथा उनके देश का कल्याण काला साहब बनने में नहीं है। उनकी समझ में धीरे धीरे यह बात आ रही है कि अपनी परंपरा और अपनी संस्कृति को छोड़कर कोई जाति क्यों पनप नहीं सकती। उनको विदित हो गया है कि अब उनमें जो साधु सुंदरसिंह और पंडिता रमाबाई सी विभूतियाँ नहीं दिखाई देतीं तो उसका एकमात्र कारण है अपनी चिर-परिचित परिपाटी को छोड़कर दूसरों की पटरी पर दौड़ने का स्वाँग करना और इस प्रकार के मूढ़ अभिनय से अपने आपको सभ्य समाज में तुच्छ बताना। निदान हम देखते हैं कि आज अधिकांश पादरी रोमक पंडित डी-नोबिली का अनुसरण कर रहे हैं और भारतीयता के पक्के प्रचारक हो रहे है। संस्कृत का इन्हें पूरा अभिमान है और उसे भारत की आत्मा की वाणी समझ उसके अभ्यास में लीन हैं। उनमें अँगरेजी नामों का अभाव होता जा रहा है। उनकी संतान अब हिंदी नाम से आगे बढ़ रही है और हिंदी नामों को ही आदर की दृष्टि से देखती है।

अच्छा, तो 'छोटा मुँह बड़ी बात' का अभिनय तो समाप्त हुआ। जैसा बना राष्ट्रभाषा का रूप दिखाया गया। अब भरत-वाक्य के रूप में यही शुभ कामना शेष रही कि भारत का बच्चा बच्चा अपने राम के स्वर में स्वर मिलाकर अपने सखाओं से एकस्वर में कह उठे —

'हमारो जन्मभूमि यह गाउँ।
सुनहु सखा सुग्रीव विभीषण अवनि अयोध्या नाउँ।
देखत बन उपबन सरिता सर परम मनोहर ठाउँ।
अपनी प्रकृति लिए बोलत हौं सुरपुर में न रहाउँ।
ह्याँ के ब सी अवलोकत हौं आनँद उर न समाउँ।
सूरद.स जो विधि न सकोचे ता बैकुंठ न जाउँ॥"

बस, राष्ट्रोद्धार और रामराज्य का मूलमंत्र यही है और यही है वह प्रकृति जिसके अनुष्ठान से राष्ट्रभाषा का प्रश्न सिद्ध होगा, अन्यथा कदापि नहीं, कदापि नहीं।

———

२—राष्ट्रभाषा का स्वरूप

राष्ट्रभाषा के स्वरूप के संबंध में अब तक बहुत कुछ कहा गया है पर उस बहुत कुछ में वह कुछ कहाँ है जो हमारे राष्ट्रजीवन का ज्योति-स्तंभ अथवा हमारे राष्ट्रहृदय का आदर्श है। किसी भी भाषा के प्रसंग में उसकी प्रकृति और प्रवृत्ति की उपेक्षा हो नहीं सकती, फिर चाहे वह कोई देशभाषा हो चाहे कोई राष्ट्रभाषा। हो सकता है कि कुछ सज्जन हमारे इस कथन से भरपूर सहमत न हों और भाषा के प्रवाह में उसके स्रोत को उतना महत्त्व न दें जितना कि उसके लक्ष्य को। ठीक है। यही सही। हम भी आज राष्ट्रभाषा की प्रकृति को उतना महत्त्व नहीं देते जितना कि उसकी प्रवृत्ति को दे रहे हैं। परंतु इसके विषय में भी हमें आप लोगों से कुछ निवेदन कर देना है। इसमें तो तनिक भी संदेह नहीं कि हमारी सच्ची राष्ट्रभाषा वही हो सकती है जिसकी प्रवृत्ति राष्ट्र की

प्रवृत्ति हो और जो राष्ट्र केसाथ सती होने के लिए सदा तैयार रहे। जिस भाषा को राष्ट्र की परंपरा से प्रेम नहीं, जिस भाषा को राष्ट्र के गौरव का ध्यान नहीं, जिस भाषा में राष्ट्र की आत्मा नहीं, वह भापा राष्ट्र की भाषा क्यों कर कही जा सकती है। किसी भी राष्ट्रभाषा के लिए यह अनिवार्य है कि उसके शब्द-शब्द राष्ट्र-राष्ट्र की पुकार मचाने वाले और अराष्ट्रीय भावों को धर दबाने वाले हों। यदि उसके शब्दों में यह राष्ट्रनिष्ठा और यह राष्ट्रशक्ति नहीं तो वह राष्ट्रभाषा तो है ही नही और चाहे जो कुछ हो।

जो लोग भारत को एक राष्ट्र ही नहीं समझते अथवा भारत की राष्ट्रभावना को कल की चीज समझते हैं उनसे कुछ निवेदन करना व्यर्थ है। पर जो लोग भारत की एकता के कायल हैं और पद-पद में उस एकता की व्यापक व्यंजना पाते हैं उनसे यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं रही कि उस एक भारत की एक भाषा भी बहुत दिनों से चली आ रही है। इसलाम के आ जमने से पहले जिसे हम अपभ्रंश या नागराप-भ्रंश कहते थे उसी को अब 'रेखता' या 'नागरी' कहने लगे और आगे चलकर परदेशियों के प्रताप से वह उर्दू भी निकल आई जो यहाँ की परंपरागत राष्ट्रभाषा को 'सौत' समझने लगी। यहाँ की परंपरागत राष्ट्रभाषा का नाम हिंदी है। हिंदी नाम हमारा नही हमारे घर का नहीं; फिर भी हमारे अपना लेने से वह हमारा हो गया और अब उससे उन लोगों का कोई नाता नहीं रहा जिनके बाप-दादों ने हमारी राष्ट्र-भाषा को यह नाम दिया। ऐसा क्यों हुआ ? इसका कारण प्रत्यक्ष है बात यह है कि हमने द्वेषवश अपनी भाषा को वही नाम दे दिया जो हमारे परदेशी भाइयों को अत्यंत प्रिय था। फिर हमारे परदेशी भाई हमारी 'हिंदी' को किस तरह अपना सकते हैं। इसलिए उनको खुश करने के लिए 'हिंदुस्तानी' का नाम चालू किया गया। पर हिंदुस्तानी का राग निराला निकला। वह गँवारों की ओर मुड़ निकली, अब उसपर भी परदेशियों की गहरी दृष्टि पड़ी और शब्दों के लिए बटवारा होने

लगा। राष्ट्रभाषा का प्रश्न शब्दों का प्रश्न बन गया और परदेशी शब्दो के लिए कठोर आग्रह होने लगा।

उर्दू के लोगो का दावा है कि उर्दू ही राष्ट्रभाषा है और वही हिंदू मुसलिम मेल से बनी है। उसी का नाम हिंदुस्तानी भी है। पर 'उर्दू' का इतिहास पुकारकर कहता है कि सच्ची बात कुछ और ही है। उर्दू की असलियत क्या है, इसका जान लेना कुछ कठिन नहीं है। पहले मौलाना शिबली नोमानी जैसे परम खोजी की बात सुन लीजिए और देखिए तो सही कि उर्दू का रंग क्या है? वह किस ओर मुड़ी चली जा रही है। उनका विषाद है—

"इस मौक़ा पर यह नुक्ता ख़ास लेहाज़ के क़ाबिल है कि अगरचे हमारे इंशापरदाज़ों ने संस्कृत और ब्रजभाषा के इल्मअदब[1] के नुक्ता-नुक्ता को समझा और उससे बहुत फायदा उठाया, लेकिन इसके फ़ैज़[2] से वही महरूम[3] रह गया जो सबसे ज्यादा हकदार[4] था। यह ज़ाहिर है कि उर्दू भाषा से निकली और उसके दामन मे पली लेकिन भाषा से जो सरमाया[5] उसको मिला, सिर्फ अल्फ़ाज़ थे। मज़ामीन[6] और ख़यालात[7] से उसका दामन खाली रहा। बख़िलाफ इसके अरबी ज़बान, जिसको भाषा से किसी किस्म का तआरुफ़[8] न था, वह संस्कृत और भाषा दोनों से मुस्तफ़ीद[9] हुई।"

हिंदी 'मज़ामीन' और हिंदी 'ख़यालात' से विलायती अरबी का दामन तो भर गया पर हिंद की 'मुल्की जबान' यानी घर की उर्दू का दामन उनसे ख़ाली रहा। क्यों? क्या राष्ट्रनिष्ठा, देशप्रेम अथवा दीन या मजहब के कारण? नहीं। उर्दू का राष्ट्र या दीन से कोई संबंध नहीं। उसमे हिंद और इसलाम दोनों की छीछालेदार है। उर्दू का दावा है—

"मेरा हाल बहरे[10] ख़ुदा देखिए, ज़रा मेरा नश्वोनुमा[11] देखिए।
मैं शाहो की गोदो की पाली हुई, मेरी हाय यों पायमाली[12] हुई।

१—विद्या-विनय। २—प्रसाद। ३—वंचित। ४—अधिकारी। ५—पूँजी। ६—विषय। ७—विचार। ८—लगाव। ९—लाभान्वित। १०—लिये, वास्ते। ११—वृद्धि। १२—पादमर्दन।

निकाले ज़बाँ फिरती हूँ बावली, ख़ुदाया मैं दिल्ली की थी लाड़ली।
अदाएँ बलाकी सितमका जमाल[१], वह सजधज क़यामत वह आफत की चाल।
मेरे इश्क़ का लोग भरते थे दम, नहीं झूठ कहती ख़ुदा की क़सम।"

इस दावे की पुष्टि जनाब 'अरशद' गोरगानी यों करते हैं—

"किताबें जितनी हैं आसमानी ज़बाने उम्दा हैं सब की लेकिन
ख़ुदा ने हरगिज़ न की इनायत किसी को इनमें ज़बाने उर्दू।"

उर्दू किस सौभाग्यशाली पर नाज़िल हुई? सुनें, उन्हीं का कहना है—

"जनाबे शाहबे क़ेराँ[२] प नाज़िल फक़त यह नेअमत ख़ुदा ने की थी।"
उन्हीं की औलद है इनकी वारिस वही हैं पैग़ंबराने उर्दू।"

और

"ज़बाने उर्दू के हमीं हैं वाली[३] हमीं है मूजिद[४] हमीं हैं बानी[५],
मकीं[६] नहीं हम तो देख लेना रहेगा वीराँ मकाने उर्दू।"

किंतु आजकल बहुत से लोग ऐसे निकल आए हैं जो अपने आप को उर्दू का वारिस समझते हैं और उर्दू को अपनी 'मादरी' ज़बान तक कह जाते हैं। उनकी इस चेष्टा को देखकर 'फ़रहंगे आसफ़िया' के विधाता मौलवी सैयद अहमद देहलवी को यह घोषणा करनी पड़ी—

"हम अपनी ज़बान को मरहठीबाज़ों लावनीबाज़ो की ज़बान, धोबियों के खड, जाहिल खयालबंदो के खयाल, टेसू के राग यानी बे सर व पा अल्फ़ाज़ का मजमूआ बनाना कभी नहीं चाहते, और न उस आज़ादाना उर्दू को ही पसंद करते हैं जो हिंदुस्तान के ईसाइयों, नव मुसलिम भाइयो, ताज़ा विलायत साहब लोगों, खानसामाओ, खिदमतगारो, पूरब के मनहियो[७], कैंप ब्वायों[८], और छावनियो के सत बेझड़े बाशिंदों ने एख़्तयार कर रक्खी है। हमारे ज़रीफ़ुल्तबा[९] दोस्तों ने मज़ाक से इसका नाम पुड़दू रख दिया है।" (फरहंगे आसफिया, सबब तालीफ़)

१—सौंदर्य। २—सौभाग्यशाली, शाहजहाँ की उपाधि। ३—स्वामी। ४—आविष्कर्ता। ५—प्रवर्तक। ६—गृही। ७—मनुष्यो। ८—पड़ाव के चाकरों। ९—मनोविनोदी।

याद रहे 'फरहंगे आसफ़िया' के उदार लेखक ने नवमुसलिम भाइयों को भी उर्दू के टाट से बाहर कर दिया है और उनकी ज़बान को भी पुड़दू ही माना है। यह पुड़दू और कुछ नहीं हमारी आपकी हिंदी है। वह हिंदी है जिसके संबंध मे एक उर्दू के हिमायती ने लिखा है—

"हिंदी की दबे पॉव मगर निहायत मुस्तकिल[1] तरक्की दरअस्ल उर्दू के गले की छुरी है जो एक दिन उसका ख़ून करके रहेगी। हुकूमत भी रंगे ग़ालिब[2] का साथ देगी।" (इफ़दाते मेहदी, मारिफ़ प्रेस, आज़मगढ़, पृष्ठ ३२८)

पर हिंदी है किसकी ज़बान ? उन्हीं हिंदू मुसलमानों और ईसाइयों की जो हिंदी हैं अहिंदी या परदेशी नहीं। परदेशी मुसलमानो ने क्या किया, ज़रा इसे भी सुन लें। वही सैयद अहमद फ़रमाते हैं—

"उर्दू नज्म ने भी फारसी ही की तर्ज एख्तयार की क्योंकि यह लोग तुर्की-उल्-नस्ल[3] थे या फारसी-उल्-नस्ल या अरबी-उल्-नस्ल। यह हिंदी की मुताबकत[4] किस तरह कर सकते थे।" (फ़रहंगे आसफ़िया, मुक़द्दमा, पृ० ८)

कहना न होगा कि यह इसी 'नस्ल' का नतीजा है कि शाह हातिम ने 'भाषा' को खदेड़कर उसकी जगह 'मुग़ली' ज़बान उर्दू को चालू कर दिया और निहायत दिलेरी के साथ अपने 'दीवानज़ादा' के दीबाचे मे लिख दिया—

"सिवाय ऑ, ज़बाने हर दयार, ता बहिंदवी, कि ऑ रा भाका गोयंद मौकूफ़ नमूद:"—

"इसके अतिरिक्त प्रत्येक पड़ोस की भाषा, यहाँ तक कि हिंदी को, जिसको भाषा कहते हैं, त्याग दिया।"

और उर्दू के एक दूसरे उस्ताद जनाब 'सौदा' ने तो यहाँ तक दौड़ लगाई कि हिंदुस्तान उनके लिए रौरव नरक बन गया। यदि विवश न होते तो क्या करते ? सुनिए तो सही, कितने पते की बात है—

१—दृढ। २—विजयी। ३—तुर्की वंश। ४—अनुकूलता।

"गर हो कशिशे शाहे ख़ुरासान तो सौदा,
सिजदा न करूँ हिंद की नापाक ज़मीं पर।"

स्मरण रहे कि अमीर खुसरो जैसे अनेक धार्मिक कवियों ने 'हिंदुस्तान' को भूरि भूरि प्रशंसा की है और इसे 'बहिश्त' ही मान लिया है क्योंकि बाबा आदम को बहिश्त से निकाले जाने पर यहीं शरण मिली थी और मोर सा बहिश्ती पक्षी भी यहीं पाया जाता है पर उर्दू के लाडलों की बात ही निराली है।

जो हो, उर्दू के तीसरे उस्ताद 'मीर' भी कुछ कम न निकले। उन्हें मार्मिक दु:ख है कि धुनियाधक्कड़, बनियाबक्काल सभी शाइरी में मग्न हैं और इस तरह उनकी पाक ज़बान को नापाक कर रहे हैं। आप क्रुद्ध कर कह जाते हैं—

"दख़्ल इस फन में न था अजलाफ[1] को, क्या बताते थे यह सो अशराफ[2] को।
थे जो इस अय्याम मे उस्तादे फन, नाकसों[3] से वे न करते थे सख़ुन।
नुक्तापरदाज़ी[4] से अजलाफों को क्या, शेर से बज़्ज़ाज़ों नद्दाफों[5] को क्या।"

मतलब यह कि उर्दू के आदि के तीनों उस्तादों ने मिलकर उर्दू की ज़बान को पक्की उर्दू क्या पूरा विलायती बना दिया और फिर उस पर हम हिंदियों का कोई अधिकार नहीं रह गया। हममें जो इसलाम के नामलेवा और सच्चे मुसलमान थे उनको भी इसी हिंदियत के नाते ज़बान की सनद न मिली और फलतः उर्दू धीरे धीरे हिंदी को सच्ची सौत समझने लगी। सौत भी कैसी फूहड़! 'अँगोछे' और धोतियों' पर रीझनेवाली और माँग में सेंदुर लगानेवाली—

"अँगोछे की अब तुम फबन देखना, खुली धोतियों का चलन देखना।
वह सेंदूर वालों में कैसी जुटी, किसी पार्क में या कि सुर्ख़ी कुटी।"

इस अप्रिय प्रसंग को और अधिक बढ़ाना हमको इष्ट नहीं। यदि उर्दू अपने इतिहास को छिपाकर आज तरह तरह का अड़ंगा न लगाती और अपनी शान पर सती होती तो कोई बात न थी। पर इस राष्ट्रचेतना

१—कमीनो। २—शरीफो। ३—तुच्छो। ४—विषय-विलास। ५—धुनिया।

और इस विश्वसंकट के समय तो हमे उसी देवी की उपासना ठीक जँचती है जिसके 'सेंदुर' के विषय में मलिक मुहम्मद जायसी का उद्गार है—

"सेंदुर परा जो सीस उघारा, आगि लागि चह जग अँधियारा।"

अस्तु, हमे यदि संसार के अंधकार को नष्ट करना है तो इस सिंदूर का स्वागत अवश्य करना है और करना है उस 'अँगोछे' और 'धोती' का सत्कार जिसमें विश्व का सारा चमत्कार सिमटकर खिल रहा है। उसकी अवहेलना तो भारत कर नहीं सकता। भारत को तो सदा से 'लँगोटी' का गर्व रहा है। वह 'गाढ़े' और 'खद्दर' को पूज्य समझता है कुछ घृणित या हेय नहीं। उसकी दृष्टि मे बी उर्दू का 'गाढ़े की गोट' या 'गाढ़े की सारियों' से नफरत करना ठीक नहीं। 'दुलाई मे अतलस की गाढ़े की गोट' तो पुरानी पड़ गई। एक 'साहबेकलाम' का कहना है—

"अगर हिंदी ने रफ्ता-रफ्ता हाथ पाँव निकाले तो यह ऐसा ही होगा जैसे वज़ादार[1] बीबियों में बड़े पायँचों की जगह जो .खुशअदाई से खोंसे जाते हैं गाढ़े गज़ी की सारियों की रवाज दिया जाय जिसे देहात की क़सीफ[2] औरतें निस्फ[3] साक[4] तक लपेट लेती हैं।" (इफ़दाते मेहदी, मारिफ प्रेस, आज़मगढ़, पृष्ठ ३२९)

अब तो आपने भी देख लिया कि वस्तुतः आज हमारे सामने न तो राष्ट्रभाषा का प्रश्न है और न हिंदू-मुसलमान का झगड़ा। है तो केवल हिंदी और अहिंदी का विवाद। राजनीति के क्षेत्र में भी और भाषा के क्षेत्र मे भी एक ओर तो देश के परदेशी मुसलमान हैं और दूसरी ओर राष्ट्र की सनातन जनता। नवमुसलिम मज़हब के हिसाब से तो उनके साथ हैं पर दुनिया के खयाल, खून के विचार और ज़बान के लेहाज से हमारे साथ। क्योंकि—

" 'ग़ालिब' के ख़यालात से यह ग़लतफ़हमी[5] नहीं होनी चाहिए कि ग़ालिब की जमाअत हिंदुओं को हिंदू होने की वजह से तहक़ीर[6] करती थी बल्कि इस रवैये की पुश्त पर 'हिंदी और ईरानी'

१—सजीली। २—भद्दी। ३—आधी। ४—पिंडली। ५—मिथ्या-धारणा। ६—भर्त्सना।

निज़ाअ[1] मुख़ासमत[2] और रक़ाबत[3] कारफ़रमा[4] थी और इस मामले में ईरानी नज़ाद[5] हज़रात हिंदुओं और हिंदुस्तानी मुसलमानों को एक निगाह से देखते थे।" (ओ० कालिज मैगज़ीन, लाहौर, मई सन् १९३१ ई०, पृ० ३९)

अतएव भाषा के क्षेत्र में कोई हिंदूमुसलिम द्वंद्व नहीं। हाँ, हिंदी और अहिंदी का झगड़ा अवश्य है। अहिंदी होने के कारण उर्दू हमारी राष्ट्रभाषा हो ही नहीं सकती। फिर उसके लिए प्रयत्न करना व्यर्थ है। वह तो सदा परदेश की ही होकर रहेगी, देश की कभी नहीं।

उर्दू की स्थिति स्पष्ट हो जाने के बाद हिंदुस्तानी का कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता। वह तो यों ही बीच की तिसरैतिन समझ ली गई है। राजनीति के क्षेत्र में जो काम फिरंगी करते हैं भाषा के क्षेत्र में वही काम हिंदुस्तानी कर रही है। मौलाना शिबली ने ठीक ही कहा है—

"हमेशा एक कशमकश[6] रहेगी। निसाब[7] बनाने में हिंदू और मुसलमान, दोनों अपनी अपनी क़ौमी ज़बान यानी अरबी और संस्कृत की तरफ़दारी करेंगे; और कभी कोई और कभी कोई फरीक़ कामयाब होगा।" (मक़ालात शिबली, जिल्द दोयम, पृ० ७५)

प्रतिदिन हो भी यही रहा है। किंतु किया क्या जाय ? यदि दोनों को अलग अलग छोड़ दिया जाय तो फिर राष्ट्र का उद्धार किस तरह होगा ? एक दूसरे को किस तरह समझ सकेंगे ? निवेदन है कि दोनों में एकता है। दोनों ही हिंदी हैं। जो अपने आप को आज भी अहिंदी समझते हैं उन्हें हिंदी बनाने का प्रयत्न करना होगा। उन्हीं की भाषा कल फ़ारसी थी। समय के फेर से उन्हीं की भाषा आज उर्दू हो गई है। कोई कारण नहीं कि उन्हीं की भाषा उन्हीं की कृपा से कल हिंदी क्यों न हो जाय। यदि वे सचमुच हिंद की संतान हैं तो हिंदी होकर रहेंगे और यदि ईरान, तुर्क या अरब की संतान हैं तो भी वही

१—द्वंद्व। २—विद्रोह। ३—शत्रुता। ४—कार्यप्रेरक। ५—वंग।
६—खींच-तान। ७—पाठ्य।

करेंगे जो उनके सगे संबंधी अपने देश के लिए कर रहे हैं। रही मज़-हब की बात। सो ख़ुद क़ुरानं शरीफ़ का फ़तवा है कि—

"व मा अर्सल्ना मिन् रसूलिन् इल्ला बेलेसाने कौम ही" (सूरा इब्राहीम की आयत ४)

यानी "और हमने तमाम (पहले) पैग़ंबरों को (भी) उन्हीं की क़ौम की ज़बान में पैग़ंबर बनाकर भेजा है।" (अशरफ़ अली थानवी का उल्था)

अच्छा, तो हमारी 'कौमी ज़बान' क्या है? उर्दू? नहीं। वह तो हिंदी तुर्कों, फ़ारसों और अरबों की जबान है। उसमें हिंद का हिंदी-पन कहाँ? तो फिर वह 'क़ौमी जबान' है कौन सी? वही, वही 'हिंदी' जिसके लिए 'गाढ़े गज़ी' की सारी है। हाँ, वही हिंदी है जिसके बारे में 'बहरी' ने स्पष्ट कहा है—

"हिंदी तो जबान है हमारी, कहते न लगे हमन भारी।"

यदि आपको हिंदी का कोई शब्द भारी जान पड़ता है तो उसका प्रयोग न करें। खुशी से उसकी जगह किसी और अपने प्रिय शब्द का प्रयोग करें। पर कृपया भूल न जायँ कि वह इस देश की कमाई है, थाती है। क्या आपके कानों तक उसकी पुकार नहीं पहुँचती जो आपके बापदादों की बानी के जौहर थे? सुनो। बात बात में तुम्हें वे कितने इतिहास बता देते हैं। यदि उनकी पुकार कान में पड़ गई और तुम सचेष्ट हो गए तो तुम ही नहीं तुम्हारा राष्ट्र भी धन्य हो गया और फिर किसी में ताब न रही कि आँख दिखाए और तुमको एक तरह से जंगली सिद्ध करे। क्या कोई भी भारत का सच्चा सपूत परम खोजी अल्लामा शिबली नोमानी की इस खोज की दाद दे सकता है और क्षोभ तथा ग्लानि के मारे गलकर भस्म नहीं हो जाता—

"हिंदू तो आज यह शिकायत कर रहे हैं कि मुसलमानों ने हिंदुस्तान में आकर मुल्क को तबाह कर दिया, लेकिन इन

कोताह[1] नज़रों को मालूम नहीं कि मुसलमानों ने हिंदुस्तान की उफ्तादा[2] ज़मीन को चमनजार[3] बना दिया था। दुनिया जानती है कि हिंदू पहले पत्तों पर रखकर खाना खाते थे। नंगे पाँव रहते थे। ज़मीन पर सोते थे। बिन सिले कपड़े पहनते थे। तंग मकानों में बसर करते थे। मुसलमानों ने आकर उनको खानेपीने, रहनेसहने, वज़ालिबास[4], फ़र्श-फ़ुरुश,[5] जेब व ज़ीनत[6] का सलीक़ा[7] सिखलाया। लेकिन यह मौक़ा इस मज़मून के फैलाने का नहीं।" (मक़ालात शिब्ली, अनवार प्रेस, लखनऊ. पृ० १६८)

किंतु उनके परम शिष्य अल्लामा सैयद सुलैमान नदवी ने कृपा कर इस 'मज़मून' को कुछ फैलाते हुए लिखा है कि—

"इन मिसालों से मक़सूद[8] यह है कि मुसलमानों ने जब यहाँ क़दम रखा तो अपने पूरे तमद्दुन[9] व मुआसिरत[10], साज व सामान और अपनी इस्तेलाहात[11] व ईजादात[12] को साथ लेकर यहाँ वारिद[13] हुए; और इन सबके लिए नाम व इस्तेलाहात व अल्फाज़ भी अपने साथ लाए और चूँकि यह हिंदुस्तान में बिलकुल नई चीज़ें थीं इसलिए हिंदुस्तान की बोलियों में इनके मुरादिफात[14] की तलाश बेकार थी। और वही अल्फ़ाज़ हिंदुस्तान में रायज[15] हो गए।" (नुक़ूशे सुलैमानी, पृ० ३०)

हमारे घर के भाइयों और राष्ट्र के सपूतों की यह खोज और भी आगे बढ़ी। प्रोफेसर मुहम्मद अजमल खाँ को पंडित जवाहिरलाल नेहरू के कहने से 'बुनियादी हिंदुस्तानी' की चिंता हुई और उन्होंने खोज निकाला कि यहाँ तो पहले कुछ था ही नहीं, जो कुछ दिखाई देता है सब मुसलमानों का किया हुआ है। देखिए न—

१—संकीर्ण। २—ऊसर। ३—फुलवारी। ४—वेशभूषा। ५—डासन-बिछावन। ६—सजधज। ७—ढंग। ८—अभिप्राय। ९—संस्कृति। १०—व्यवहार। ११—संकेतों। १२—आविष्कारों। १३—आगंतुक। १४—पर्यायों। १५—प्रचलित।

"यहाँ लिबास, ख़ोराक और मकानों की क़िस्में लिखने की गुंजाइश नहीं लेकिन इनमें से जितनी क़िस्में हैं वह सब और अगर सब नहीं तो ९९ फ़ी सदी गैर हिंदुस्तानी हैं। इनमें से अक्सर ईरानी, तातारी और तुर्की तमद्दुन की याद दिलाती हैं। इसमें शक नहीं कि इनकी आमद का ज़रिया मुसलमान हुए लेकिन इस तमद्दुन को हिंदुस्तान के वाशिंदों ने हिंदुस्तान ही के रुपया से हिंदुस्तान ही के सन्नाओं[1] और मज़दूरों की मेहनत से तरक्क़ी दी। मुसलमानों का अगर यह ख़्याल हो कि इसलामी तमद्दुन किसी ख़ास तर्जे लिबास व ख़ोराक व मकान से वाबस्ता[2] है तो क़त्तयी ग़लत है। इन चीजों का ताल्लुक ज़्यादातर मुकामी आबोहवा और जुग़राफ़िया हालात से नशोनुमा पाता है।" (उर्दू, सन् १९३९ ई० पृ० ३८२)

ख़ोराक के बारे में 'खाँ' महोदय का दावा है—

"ख़ोराक और ग़िज़ा[3] के सिलसिला में संस्कृत में रोटी तक के लिए कोई लफ्ज़ नहीं है। इसे गेहूँ से बनी हुई ग़िज़ा कहते थे। मुख़्तलिफ़[4] सूबों में इसके अलहदा-अलहदा नाम हैं। अब तक हिंदुस्तान के देहातों मे खाने की आम इस्तेमाल की चीज़ भुना हुआ ग़ल्ला है। चूँकि कच्चो और पक्की ग़िज़ा का ताल्लुक हिंदू धरम से है इसलिए किसी ऐसी गिज़ा का नाम पुरानी जबानो मे नहीं पाया जाता जो छूतछात के असरात[5] से खाली हो और इसके साथ साथ इंसानी शिनअत[6] का भी इसमे दख़ल हो। हिंदुस्तान के अलावा रोटी हर जगह तनूर में पकती है और नानबाई, हलवाई, कबाबची, कहवाफ़रोश वग़ैरह का तखैय्युल[7] ही ऐसी अकवाम[8] से वाबस्ता[9] है जिनमे छूतछात न हो।" (वही, पृ० ३८०)

रोटी के इस घोर युग मे रोटी की बात यदि यहीं समाप्त हो जाती तो राष्ट्रभाषा के स्वरूप के संबंध में हम इसे इतना महत्त्व नही देते और इसे भी एक ख़ुदाई शान समझकर कुछ आगे की बात बताते। पर करें क्या ? राष्ट्रभाषा के परम भक्त देशरत्न राष्ट्रपति श्री राजेंद्र

१—शिल्पियो। २—आबद्ध। ३—भोजन। ४—विभिन्न। ५—प्रभावों। ६—शिल्प। ७—भाव। ८—कौमों। ९—सबद्ध।

बाबू तक पर इसी असत्य उर्दवी खोज का प्रभाव पड़ गया है। आप कहते हैं—

"कौन कह सकता है कि 'रोटी' जिसके बिना हम रह नहीं सकते, हिंदुस्तान में कहाँ से आई और इसका असली रूप क्या था? सुना है कि यह तुर्की शब्द है।" (ना० प्र० पत्रिका, संवत् १९९६, पृ० ३०५ पर उद्धृत)

'तुर्की शब्द' के संबंध में तो इतना कह देना पर्याप्त था कि तुर्की भाषा में टवर्ग नहीं। परंतु जब हमारे एक सपादलक्षी हिंदी आलोचक भी 'रोटी' और 'नायक' को अहिंदी सिद्ध करने पर तुले हुए हैं तब इतने से ही काम न चलेगा। उन्हें दिन दहाड़े बताना होगा कि रोटी हिंदवी है—

"नान बताज़ी खुब्ज़ रोटी हिन्दवी।" (खालिकबारी)।

यही नहीं बाबर बादशाह को भी यहाँ का 'रोटीपानी' ही बहुत दिखाई देता है। उसका कितना साफ़ कहना है—

"मुजका न हुआ कुज हवसये मानिक वो मोती,
फुक़रा हालीन बस बुल्गुसिदुर[1] पानी वो रोती।"

याद रहे उर्दू के कोषकारों ने भी रोटी को हिंदी शब्द ही लिखा है और उसे 'मुसलमान मुरदे के चहलुम का खाना' भी बताया है। रही 'संस्कृत में रोटी तक के लिए कोई लफ़्ज नहीं है' की बात। सो उसके विषय में निवेदन है कि ध्यान से पढ़ें और तनिक देखें तो सही कि स्थिति क्या है? भावप्रकाश का कहना है—

शुष्कगोधूमचूर्णेन किञ्चित् पुष्टाञ्च पोलिकाम्।
तप्तके स्वदयेत् कृत्वा भूयोऽङ्गारेऽपि तां पचेत्॥
सिद्धैषा रोटिका प्रोक्ता गुणानस्याः प्रचक्ष्महे।
रोटिका बलकृद्रुच्या बृंहणी धातुवर्द्धिनी।
वातघ्नी कफकृद् गुर्वी दीप्ताग्नीनां प्रपूजिता॥

१—मुझे माणिक्य और मोती की कुछ चाह नहीं है। दीनजनों की अवस्था में तो रोटी और पानी ही पर्याप्त है।

कहने का तात्पर्य यह कि 'रोटिका' स्वतः संस्कृत है; फ़ारसी, अरबी, तुर्की या तातारी नहीं। साथ ही यह भी ध्यान रहे कि 'शष्कुली-शब्दमात्रेण किं दूरं योजनत्रयं' की कहावत आज भी इसी रूप में चली जा रही है। पाककला के विषय में इससे अधिक और क्या कहा जाय कि—

"रसवती, पाकस्थान, महानस, ये तीन नाम रसोईघर के हैं और जो कि उस रसोई के स्थान का अध्यक्ष है वह 'पौरोगव' संज्ञिक है। सूपकार, बल्लव, आरालिक, आंधसिक, सूद, औदनिक, ये पौरोगव सहित सात नाम रसोई बनानेवाले के हैं। आपूपिक, कांदविक, भक्ष्यकार; ये तीन नाम भक्ष्यकार यानी पुआ आदि पकवानों के बनानेवाले के हैं। इसको हलवाई भी कहते हैं।" (अमरकोश, मुंबई वैभवाख्ये मुद्रितः पृ० १६९, भाषाटीका)

अब तो आपकी समझ मे यह बात आ ही गई होगी कि किसी भी राष्ट्र के जीवन में शब्दो का क्या महत्त्व है और क्यों भारत में शब्द-ब्रह्म की इतनी प्रतिष्ठा है। फिर भी परदेशी संस्कृति-प्रेमियों के हृदय को अच्छी तरह समझने तथा इस दिवांधता को दूर करने के लिए उनके 'मतरूक' और 'मुब्तज़ल' के सिद्धांतों को भलीभाँति हृदयंगम कर लेना चाहिए। अच्छा हो, इसे भी किसी कुलीन देहलवी मुसलमान के मुँह से सुनें। लीजिए उसका कहना है—

"आतिश व नासिख़ ने तो इतना ही किया कि जो अल्फ़ाज़ करीबुल्मर्ग[1] थे उनको अमदन्[2] तर्क[3] कर दिया। तरकीब नई थी। लोगों को पसंद आई। दूसरों ने उन अल्फ़ाज़ को भी तर्क करना शुरू कर दिया जो रोज़मर्रा[4] मे जारी थे। मौलवी अली हैदर साहब तबातबाई लिखते हैं कि लखनऊ मे एक साहब मीर अली औसत रश्क थे 'जिन्होंने चालीस पैंतालीस लफ़्ज़ शेर मे बाँधने तर्क कर दिए थे और इस पर उनको बड़ा नाज़ था।' ..शेख़ हज़ो शरफ़ मीर अली औसत से भी बढ़े

१—मृतप्राय। २—जानबूझकर। ३—त्याज्य। ४—बोलचाल।

हुए थे। उन्होंने असी बयासी लफ्फ़ छोड़ दिए।" (तसहीलुल्बलगात, सज्जाद मंज़िल. देहली, पृ० ४२)

इतने पर भी हमारी 'मुल्की' और मुश्तरका' ज़बान के उस्तादों को कल न पड़ी। इन्हें इस क्षेत्र में कुछ और भी करना पड़ा। नतीजा यह हुआ कि मुसलिम संस्कृति के प्रकांड पंडित अल्लामा शिबली को भी खीझकर कहना ही पड़ा—

"उर्दू ज़बान में चूँकि एक मुद्दत तक बेहूदा मुबालिग़ा[1] और ख्यालबंदी की गर्मबाज़ारी रही, इसलिए वाक़आत के अदा करने के लिए जो अल्फ़ाज़, तरकीबें, इस्तेलाहात. मुक़र्रर हैं इस्तेमाल में नहीं आईं। इसलिए आज नए सिरे से उनको इस्तेमाल किया जाय तो या इब्तज़ाल[2] यानी आमियानापन, या ग़राबत यानी रूखापन पैदा हो जाता है, नज़ीर अकबराबादी के कलाम में जो सूक़ियानापन[3] है इसका यही राज़ है।" (मवाज़ेना अनीस व दबीर, अल्नज़िर प्रेस, लखनऊ, १९२४ ई०, पृ० १६०)

'मतरूक' और 'मुब्तज़ल' के 'फ़रमानों' से पूरा पड़ते न देखकर 'फ़तवा' से काम लिया गया और हिंद के ठेठ मुसलमानों को जो दिव्य पाठ पढ़ाया गया उसका परिणाम यह हुआ कि उर्दू और मुसलमान एक हो गए। उर्दू 'नबी की जबान' होकर ही रुक जाती तो भी ग़नीमत थी। बेचारे ठेठ मुसलमानों को कुछ तो नसीब होता। पर वहाँ तो वह रंग ग़ालिब हुआ कि कुछ कहते ही नहीं बनता। एक घटना आपके सामने है। समझ हो तो स्थिति को अच्छी तरह समझ लें और फिर राष्ट्रभाषा का स्वरूप स्थिर करें। घटना हैदराबाद के निज़ाम राज्य की है। वहाँ के स्वर्गीय डिप्टीकमिश्नर मौलवी मुहम्मद अज़ीज़ मिर्ज़ा साहब फ़रमाते हैं—

"मेरा गुज़र एक बहुत ही छोटे गाँव में हुआ। वहाँ आसामियों को तलब करके उनके हालात दरियाफ्त किए गए तो एक मुसलमान भी लंगोटी बाँधे आया और उसने अपना नाम अशवंत खाँ बताया। मैंने

१—झूठ। २—सामान्यता। ३—बाज़ारीपन।

उससे उर्दू में गुफ्तगू[1] करनी चाही। मगर जब वह अच्छी तरह न समझ सका तो मरहठी मे बातचीत की जिसमें वह .खूब फ़र्राटे उड़ाता था और यह देखकर मैंने उससे पूछा कि आया वह अपने घर में भी मरहठी बोला करता है। यह सुनते ही उसका चेहरा सुर्ख हो गया और कहने लगा "साहब मैं मरहठी क्यों बोलने लगा! क्या मैं मुसलमान नहीं?" ऐसी ही हालत ब्रह्मा में भी देखी कि गो मुसलमानों की मादरी ज़बान ब्रह्मी है लेकिन वह उर्दू को अपनी क़ौमी और मज़हबी ज़बान समझते हैं" (.ख्यालाते अज़ीज़, पृ० १७१, ज़माना प्रेस, कानपुर)

'मतरूक' 'मुब्तज़ल' और 'मज़हब' की त्रिपुटी में अलख जगानेवाली उर्दू ज़बान की माया आपके सामने है। उसका सच्चा हाल यह है कि—

"हिंदुओं के अदब में जो .खूबियाँ हैं उर्दू ज़बान उनसे महरूम रही। संस्कृत ज़बान दुनिया की वसीअतरीन[2] ज़बानों में है और उसका दरजा लातनी, यूनानी और अरबी से कम नहीं है। यूरप की ज़बानों ने जो तरक्कीयाफ्ता कहलाती हैं लातनी और यूनानी ज़बानों के अदब से फ़ायदा उठाया है क्योंकि लातनी और यूनानी उसी बर्रे-आज़म[3] की ज़बानें थीं जिनमे यह तरक्कीयाफ्ता ज़बानें बोली जाती हैं। मगर हमारी ज़बान ने जिस बर्रेआज़म यानी एशिया में नशोनुमा हासिल की उसकी दो बड़ी ज़बानों यानी अरबी और संस्कृत में से सिर्फ अरबी ज़बान के अदब से कुछ .फैज़ हासिल किया है। संस्कृत के अदब से उसने कोई फ़ायदा नहीं उठाया। लातनी और यूनानी की तरह संस्कृत ज़बान भी मर गई यानी कहीं बोली नहीं जाती मगर जो ज़बानें इससे मुश्तक़[4] हुईं, यानी हिंदी, मरहठी, गुजराती, बंगाली वग़ैरह उनके अदब का असर भी उर्दू ज़बान पर नहीं पड़ा। हालां कि उर्दू के रक़बा के साथ उन ज़बानों का रक़बा इत्तेसाल[5] रखता है और इन ज़बानों के बोलनेवाले उर्दू बोलनेवालों के साथ बराबर मिलते-जुलते और आपस में रस्मोराह[6] रखते हैं। अगर इन ज़बानों के अदब

१—बातचीत। २—विस्तृततम। ३—महाद्वीप। ४—उत्पन्न। ५—लगाव। ६—रीति-नीति।

का असर हमारी ज़बान पर पड़ता तो, इसमें ज़रा शक नहीं, उर्दू ज़बान को सहीह मानों में मुल्की ज़बान होने का फ़ख़् हासिल हो जाता और हिंदुओं को मुसलमानों की तरह इस ज़बान के मालिक होने का एकसाँ हक़ होता।" (उर्दू, सन् १९२५ ई०, पृ० ३७८)

उर्दू के परदेशीपन और अराष्ट्रीय प्रवृत्ति का परिचय आवश्यकता से अधिक दे दिया गया। अब यहाँ यह स्पष्ट कर देना है कि जिस प्रकृति के आधार पर वह अपने आप को देशी या 'हिंदुस्तानी' ज़बान कहती है वह वस्तुतः हिंदी है। अतएव प्रकृति की दृष्टि से उसकी कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं। अब प्रश्न वह उठता है कि इस प्रकृति का नाम हिंदी रहे या हिंदुस्तानी ? जहाँ तक पता है हिंदुस्तानी के पक्ष मे अब तक एक भी ऐसी दलील सामने न आई जो उसे हिंदी से बढ़कर सिद्ध कर दे। सच पूछिए तो 'उर्दू' की तरह 'हिंदुस्तानी' शब्द भी हिंदिओं के लिए अपमानजनक हो गया है और फिरंगियों की रंगसाज़ी की गवाही देता है। मज़हब की दृष्टि से देखा जाय तो 'हिंदी' अरबी ज़बान का लफ्ज़ है और हिंदुस्तानी ख़ुरासानी या फ़ारसी। हिंदुस्तानी का 'हिंदू' तो यारों को नहीं खटकता पर वह 'हिंदी' उनकी पाक निगाह में गड़ जाती है जो सच पूछिए तो उन्हीं की देन है। इसका भी एक रहस्य है। 'हिंदी' में वह जादू है और है वह राष्ट्र-गौरव जो लड़ाकू अरबों को भी यह सबक़ सिखा सकता है कि 'हिंदी तलवार' और 'हिंदी नेज़ा' का गुण-कीर्त्तन किस तरह इसलाम के पूर्वपुरुष किया करते थे और 'मसहफ़' उठानेवाले मियाँ 'मसहफ़ी' भी अभी उस दिन अपनी अनोखी ज़बान को 'हिंदवी' ही कहते थे। उनकी लाचारी पर ग़ौर तो कीजिए—

"मसहफ़ी फ़ारसी को ताक़ पर रख,
अब है अशआर हिंदवी का रवाज।"

लाचारी इसलिए कि—

"क्या रेख़ता कम है 'मसहफ़ी' का बू आती है उसमें फ़ारसी की।"

अस्तु, यह इसी फ़ारसी की बू का असर है कि हज़रत 'अरशद' गोरगानी का तुर्रा है कि—

'ज़बाने उर्दू का था जो .कुरआँ तो 'मसहफ़ी' उसके मसहफ़ी थे,
ग़लीज़ लफ़्ज़ों से मंतरों से भरी है वह ही ज़बाने उर्दू ।'

'ग़लीज़ लफ्ज़ों' और 'मंतरों' से मुग़लज़ादे गोरगानी अरशद का अभिप्राय क्या है इसके कहने की आवश्यकता नहीं। उर्दू में पढ़ाया तो यह जाता है—

"मालूम है 'हाली' का है जो मौलिदोमंशा[१],
उर्दू से भला वास्ता हज़रत के वतन को!
उर्दू के धनी वह हैं जो दिल्ली के हैं रोड़े,
पंजाब को मस[२] उससे न पूरब न दकन को।
बुलबुल ही को मालूम हैं अन्दाज़ चमन के,
क्या आलमे गुलशन की ख़बर [३]ज़ागवोज़गन[४] को॥"

किंतु हिंदी शब्द ही नहीं, हिंदी भाषा में भी पाक इसलाम की पूरी पूरी प्रतिष्ठा है और नूर मुहम्मद ने तो साफ़ साफ़ कह भी दिया है —

"दीन जेंवरी करकस माजेउँ"।

जिसे इसमें तनिक भी संदेह हो वह हिंदी के सूफ़ी कवियों का अध्ययन करे और देखे कि सच्चे इसलाम की आत्मा कहाँ बोल रही है—'शराब' या 'सलात' में। फ़ारस या हिंदुस्तान में। यहाँ क्यों? यदि शीआ और सुन्नी का समन्वय देखना हो तो हिंदी का पाठ करो। जायसी के 'आखिरी कलाम' को पढ़ो और देखो कि हिंदी किस 'जुमा' का नाम है।

राष्ट्रभाषा के स्वरूप की चर्चा हो चुकी और यह भी बता दिया था कि किसी भी राष्ट्र के जीवन में उसके शब्दों का क्या महत्त्व होता है। आप जानते ही हैं कि हमारे 'क्षौम' और 'कौशेय' किस

१—जन्मस्थान। २—स्पर्श। ३—कौआ। ४—चील।

वात की गवाही देते हैं। पर हमारे वड़े से वड़े मौलाना यह नहीं समझ सकते कि इनका अर्थ क्या है। उनके यहाँ तो इनका नाम लेना भी हराम है। पर हमारी राष्ट्रभाषा इनको छोड़कर अपने अतीत और अपनी राष्ट्रीयता का गर्व नहीं कर सकती। वह अन्य भाषाओं के सामने डट कर यह सिद्ध नहीं कर सकती कि उसकी कोख के सपूत उस समय क्षुमा (अलसी) और कोश (रेशम के कोआ) से वस्त्र वनाया करते थे जव आजकल का सभ्य संसार वनचर की दशा में था। अतएव हमारा तो निश्चित मत है कि हम अपनी भाषापरम्परा को छोड़ नहीं सकते और हमारी राष्ट्रभाषा भी राष्ट्र की भाषा को तिलांजलि दे फ़ारसी-अरवी या उर्दू नहीं वन सकती।

फ़ारसी-अरवी शब्दों का कोई झगड़ा हमारी राष्ट्रभाषा के सामने नहीं है। 'मतरूक' और 'मुब्तज़ल' से उसका दामन पाक है। उसका मौलवी वच्चा 'फारसी अरवी' झाड़ सकता है पर उसका हर एक वच्चा उसके लिये विवश या वाध्य नहीं किया जा सकता। उसकी भाषा उसकी रुचि और विषय के अनुकूल होगी। किसी कोष या लुग़त के मुताविक़ नहीं। यदि इतने से किसी को सन्तोष नहीं होता तो न सही। वह चाहे जिस 'कामकाजी' या 'मुगली वानी' की ईजाद करे पर कृपया राष्ट्रभाषा को वदनाम न करे। संसार की कोई भी राष्ट्रभाषा परदेशी शब्दों पर नाज़ नहीं करती वल्कि उलटे उन्हें 'धत्त' ही सुनाती है। हिन्दी तो 'धत्त' का नाम भी नहीं लेती। फिर उस पर यह वज्रपात कैसा?

राष्ट्रभाषा का कागदी स्वरूप यानी लिपि भी विवादग्रस्त है। जो लोग नागरी को अच्छी नहीं समझते वे शौक़ से अपनी किसी अच्छी लिपि का अपने अच्छों में व्यवहार करें और चाहें तो किसी प्रदर्शिनी में उसका उद्घाटन भी करते रहें पर कृपया भूल न जायँ कि यह वही लिपि है जिसमें लोदियों और सूरियों के फ़ारसी फ़रमान तक लिखे गए और अपनी साधुता की रक्षा करने में समर्थ रहे। आज अरवी लिपि के पुजारियों को जानना होगा कि क्यों डाक्टर इक़बाल सैयद तथा उनके आलोचक स्वनामधन्य मौलाना डा॰ अब्दुल हक़ एक पद का

अर्थ ठीक ठीक न समझ सके। देखिए कितना सीधा पद और कितना सादा अर्थ है, पर वही लिपि की दुरूहता के कारण कैसा पहाड़ हो रहा है। 'बहरी' कहता है—

"परगट बुरा माने गुपुत बलि गए सो कहो वह कौन थे।"

डाक्टर हफ़ीज़ 'गुपुत' को कपट' पढ़ते हैं तो डाक्टर हक़ 'बलि' को 'बल'। 'बल' की बला में दोनों बलबला रहे हैं। बलिहारी है ऐसी लिपि को और बलिहारी है उस बुद्धि को जो इसे राष्ट्रलिपि बनाना चाहती है और निरक्षर जनता को इसी के द्वारा साक्षर बनाना चाहती है। नहीं ऐसा हो नहीं सकता। 'बलि' को भूल कर भी 'बल' मत बनाओ, नहीं तो कोई हिंदुस्तानो का लाल उसे 'बिल वा 'बुल' बाँच जायगा और आप बिलबिला कर रह जायँगे। ऐसी छबोली अनहोनो पर क्यों मरे जाते हो? हिंदी के क्यो नहीं हो रहते? अरे! नागरो के नागर बनो उर्दू के बागर नहीं।

---

३. राष्ट्र-भाषा संबंधी दस प्रश्न

[श्री मोहनदास करमचन्द गान्धी]

प्रश्न १:—फारसी लिपि का जन्म हिन्दुस्तान में नहीं हुआ। मुगलों के राज्य में यह हिन्दुस्तान में आई, जैसे अँगरेजों के राज्य में रोमन लिपि। पर राष्ट्रभाषा के लिए हम रोमन लिपि का प्रचार नहीं करते, तो फिर फारसी लिपि का प्रचार क्यों करना चाहिए?

उत्तर:—अगर रोमन लिपि ने फारसी लिपि के समान ही घर किया होता, तो जो आप कहते हैं, वही होता। मगर रोमन लिपि तो सिर्फ मुट्ठी[1] भर अँगरेजी पढ़े-लिखे लोगों तक ही सीमित रही है, जब

१—महात्मा जी का यह कथन कितना ऊपरी और आवेशपूर्ण है। रोमन लिपि का व्यवहार फारसी लिपि से कम भले ही हो पर वह 'मुट्ठी भर अँगरेजी

कि फारसी तो करोड़ों हिन्दू-मुसलमान लिखते हैं। आपको फारसी और रोमन लिपि लिखनेवालों की संख्या ढूँढ़ निकालनी चाहिए।

प्रश्न २:—अगर आप हिन्दू-मुसलिम एकता के लिये उर्दू सीखने को कहते हों, तो हिन्दुस्तान के बहुत से मुसलमान उर्दू नहीं जानते। बंगाल के मुसलमान बँगला बोलते है और महाराष्ट्र के मराठी। गुजरात में भी देहात में तो वे गुजराती ही बोलते हैं। दक्षिण भारत में तामिल वगैरः बोलते होंगे। ये सब मुसलमान अपनी प्रान्तीय भाषाओं से मिलते जुलते शब्दों को ज्यादा आसानी से समझ सकते हैं। उत्तर भारत की तमाम भाषाएँ संस्कृत से निकलती हैं, इसलिये उनमे परस्पर बहुत ही समानता है। दक्षिण भारत की भाषाओं मे भी संस्कृत के बहुत शब्द आ गये हैं। तो फिर इन सब भाषाओं के बोलनेवालों में अरबी-फारसी-जैसी अपरिचित भाषाओं के शब्दो का प्रचार क्यों किया जाय?

उत्तर:—आपके प्रश्न में तथ्य अवश्य है; मगर मैं आपसे कुछ ज्यादा विचार करवाना चाहता हूँ। मुझे कबूल करना चाहिए कि फारसी लिपि सीखने के लिये जो आग्रह मैं करता हूँ, उसमें हिंदू-मुसलिम एकता की दृष्टि रही है। देवनागरी और फारसी लिपि की तरह हिंदी और उर्दू के बीच भी बरसों से झगड़ा चला आ रहा है। इस झगड़े ने अब जहरीला रूप पकड़ लिया है। सन् १९३५ में हिंदी-साहित्य-सम्मेलन ने इन्दौर में हिन्दी की व्याख्या में फारसी लिपि को

पढ़े लिखे लोगों तक ही सीमित' नहीं है प्रत्युत बहुत से फारसी-अरबी के मुल्ला भी उसे पहचानते और अपनाते भी हैं। फारसी-लिपि को 'करोड़ों हिंदू-मुसलमान' कहाँ लिखते हैं? इतने तो उसे जानते भी नहीं हैं। यहाँ विचारणीय बात यह है कि रोमन लिपि का व्यवहार व्यापक है परन्तु फारसी-लिपि का सीमित। हाँ, उस सीमा के भीतर वह भले ही रोमन-लिपि से अधिक प्रचलित है। किन्तु वहाँ भी उनका अनुपात 'मुट्ठी भर' और 'करोड़ों' का नहीं है। दूसरे प्रश्न विदेशीपन का था, संख्या का नहीं।

स्थान दिया। १९२५ में कांग्रेस ने कानपुर में राष्ट्रभाषा को हिंदुस्तानी नाम दिया। दोनों लिपियों की छूट दी गई थी, इसलिये हिंदी और उर्दू को राष्ट्रभाषा माना गया। इस सब में हिंदू-मुसलिम एकता का हेतु तो रहा ही था। यह सवाल मैंने आज नया नहीं उठाया। मैंने इसे मूर्त स्वरूप दिया, जो प्रसंगानुकूल ही था। इसलिये अगर हम राष्ट्रभाषा का सम्पूर्ण विकास[२] करना चाहें, तो हमें हिंदी व उर्दू को और देवनागरी व फारसी लिपि को एकसा स्थान देना होगा। अन्त में तो जिसे लोग ज्यादा पचायेंगे वही ज्यादा फैलेगी।

बहुतेरी प्रान्तीय भाषाएँ संस्कृत से निकट सम्बन्ध रखती हैं और यह भी सच है कि भिन्न-भिन्न प्रांतों के मुसलमान अपने-अपने प्रांत की ही भाषाएँ बोलते हैं। इसलिए यह ठीक ही है कि उनके लिये देवनागरी लिपि और हिंदी आसान रहेगी। यह कुदरती लाभ मेरी योजना से चला नहीं जाता। बल्कि मैं यह कहूँगा कि इसके साथ मेरी[३] योजना में फारसी लिपि सीखने का लाभ और मिलता है। आप इसको बोझ मानते हैं। लाभ मानना कि बोझ यह तो सीखनेवाले की वृत्ति पर

२—महात्माजी का यह तर्क विलक्षण है। 'राष्ट्रभाषा का सपूर्ण विकास' एक बात है और 'राष्ट्र-लिपि' का समुचित उपयोग दूसरा। यदि आप प्रमाण चाहते हैं तो कल तक के 'ख़लीफ़ा' के देश टर्की को लें। वहाँ की राष्ट्रभाषा तो तुर्की है परन्तु राष्ट्र-लिपि कुछ हेर-फेर के साथ रोमन। महात्मा जी चले तो थे हिंदू-मुसलिम-एकता को लेकर और टूट पड़े राष्ट्रभाषा पर जो न्याय नहीं नीति की बात भले ही हो। विचार करने की बात है कि जब इसलाम के अड्डे में अरबी लिपि में राष्ट्रभाषा का विकास न हो सका तब संस्कृत भूमि भारत में उसका 'सम्पूर्ण विकास' किस न्याय से होगा।

३—महात्मा जी की यह योजना यदि व्यक्तिगत 'लाभ' की दृष्टि से है तो उससे हमारा कोई विरोध नहीं, किन्तु यदि राष्ट्र की समष्टि-दृष्टि से है तो उससे हमारा गहरा मतभेद है। हम उसे राष्ट्र के लिये घातक समझते हैं। कारण, हम सभी 'योग' को 'क्षेम' नहीं मानते। कहते हैं

अवलम्बित है। अगर उसमें उमड़ता हुआ देश-प्रेम होगा तो वह फारसी लिपि और उर्दू भाषा को बोझरूप कभी न मानेगा। और जबर्दस्ती को तो मेरी योजना में स्थान ही नहीं है। जो इसमें लाभ समझेगा, वही दोनों लिपि और दोनों भाषा सी खेगा।

प्रश्न ३ :—हिन्दुस्तान का बहुत बड़ा हिस्सा नागरी लिपि जानता है, क्योंकि बहुत सी प्रान्तीय भाषाओं की लिपि नागरी अथवा नागरी से मिलती-जुलती है। पजाब, सिन्ध और सरहदी सूबों में नागरी का प्रचार कम है। क्या ये लोग आसानी से नागरी सीख नहीं सकते?

उत्तर :—इसका जवाब ऊपर दिया जा चुका है। सरहदी सूबेवालों को और दूसरों को देवनागरी तो सीखनी ही होगी।

प्रश्न ४ :—भाषा ज्यादातर तो बोलने के लिये है। बोलने और बातचीत करने के लिये लिपि की जरूरत नहीं। लिपि बहुत गौण वस्तु है। अगर राष्ट्रभाषा मातृभाषा की लिपि द्वारा सिखाई जाय, तो क्या वह ज्यादा आसानी से नहीं सीखी जा सकती? अगर ऐसा किया जाय, तो राष्ट्रीय दृष्टि से इसमें क्या नुकसान है?

उत्तर :—आपका कहना सच है। मैं मानता हूँ कि अगर हिन्दी

कि मधु और घृत का समयोग विष हो जाता है। रही एकता की बात, सो उसका तो निश्चित नियम है 'समान व्यसन'। 'हिन्दी' और 'उर्दू' का 'व्यसन' समान नहीं है अतएव उनमें सख्य हो नहीं सकता। जिस दिन 'उर्दू' में 'देश-प्रेम' उमडेगा उसी दिन वह हिन्दी हो जायगी। कोई भी 'उर्दू' से अभिज्ञ सच्चा देशप्रेमी, देश के नाम पर, उसका स्वागत कर नहीं सकता। क्योंकि उसमें हिन्दू तो क्या देशी मुसलमान भी घृणा की दृष्टि से देखे जाते हैं और सभी देशी वस्तुओं के बहिष्कार का भरसक प्रयत्न किया गया है। रही हिन्दू-मुसलिम-एकता की बात, सो वह तो इस दोहरी योजना के कारण देखते-देखते और भी दो भिन्न भिन्न धाराओं में बँट गई है। तो अब वह कौन-सा जादू ऐसा काम करेगा जिससे चने की दो दालें फिर चना बनकर अपनी सृष्टि बढ़ाएँगी। क्या किसी लासा-लूसी से यह योजना सफल हो सकती है?

और उर्दू प्रान्तीय भाषाओं के द्वारा ही सिखाई जायें, तो वे आसानी से सीखी जा सकती हैं। मै जानता हूँ कि इस किस्म की कोशिश दक्षिण के प्रान्तों में हो रही है, पर वह पद्धतिपूर्वक नहीं हो रही। मैं देखता हूं कि आपका सारा विरोध इस मान्यता के आधार पर है कि लिपि की शिक्षा बोझरूप है। मैं लिपि की शिक्षा को इतना कठिन नहीं मानता परन्तु प्रान्तीय लिपि के द्वारा राष्ट्रभाषा का प्रचार किया जाय, तो उसमें मेरा कोई विरोध हो ही नहीं सकता। जहाँ लोगों में उत्साह होगा, वहाँ अनेक पद्धतियाँ साथ-साथ चलेंगी।

प्रश्न ५ :—अगर हम मान भी लें कि जब तक पंजाब, सिन्ध और सरहदी सूबे के लोग नागरी नहीं सीख लेते तब तक उनके साथ मिलने-जुलने के लिए उर्दू जानने की आवश्यकता है, तो इसके लिए कुछ लोग उर्दू सीख लें—मसलन्, प्रचारक लोग। सारे हिन्दुस्तान को उर्दू सीखने की क्या जरूरत है?

उत्तर :—सारे हिन्दुस्तान के सीखने का यहाँ सवाल ही नहीं। मैं मानता ही नहीं कि सारा हिन्दुस्तान राष्ट्रभाषा सीखेगा। हाँ, जिन्हें राष्ट्र में भ्रमण करना है, और सेवा करनी है, उनके लिए यह सवाल है जरूर। अगर आप यह स्वीकार कर लें कि दो भाषा और दो लिपि सीखने से सेवाक्षमता बढ़ती है, तो आपका विरोध और आपकी शका शान्त हो जायगी।

प्रश्न ६ :—आजकल राष्ट्रभाषा नागरी व फारसी दोनों लिपियों मे लिखी जाती है। जिसे जिस लिपि में सीखना हो, सीखे। हरएक शख्स को लाजिमी तौर पर दोनों लिपियाँ सीखनी ही चाहिए, यह आग्रह क्यों किया जाता है?

उत्तर :—इसका भी एकही जवाब है। मेरे आग्रह के रहते भी सिर्फ वे ही लोग इसे स्वीकार करेंगे, जो इसमें लाभ देखेंगे। जिन्हें एक ही लिपि और एक ही भाषा से सन्तोष होगा, वे मेरी दृष्टि में आधी राष्ट्रभाषा जाननेवाले कहलायेंगे। जिन्हें पूरा प्रमाणपत्र चाहिए, वे दोनों लिपियाँ और दोनों भाषाएँ सीखेंगे। इससे तो आप भी इनकार न

करेंगे कि देश में ऐसे लोगों की भी काफी संख्या में जरूरत है। अगर इनकी संख्या बढ़ती न रही, तो हिन्दी और उर्दू का सम्मिलन न हो पायेगा और न कांग्रेस की व्याख्यावाली एक हिन्दुस्तानी भाषा कभी तैयार[४] हो सकेगी। एक ऐसी भाषा की उत्पत्ति तो हमेशा इष्ट है ही, जिसकी मदद से हिन्दू और मुसलमान दोनों एक-दूसरे की बात आसानी से समझ सकें। ऐसे स्वप्न का सेवन हम में से बहुतेरे कर रहे हैं। किसी दिन वह सच्चा भी साबित होगा।

प्रश्न ७ :—अहिन्दी-भाषी प्रान्तों के लोगों के लिये, जो राष्ट्रभाषा नहीं जानते एक साथ दो लिपियों में राष्ट्रभाषा सीखना क्या जरूरत से ज्यादा बोझिल न होगा? पहले एक लिपि द्वारा वह अच्छी तरह सीख ली जाय, तो फिर दूसरी लिपि तो बड़ी आसानी से सीख ली जा सकेगी।

उत्तर :—इसका पता तो अनुभव से लगेगा। मैं मानता हूँ कि जो इनमें से एक भी लिपि नहीं जानता, वह दोनों लिपियाँ एक साथ नहीं सीखेगा। वह स्वेच्छा से पहली अथवा दूसरी लिपि पहले सीखेगा और

४—महत्मा गान्धी की कांग्रेसवाली हिन्दुस्तनी अभी तैयार नहीं हुई। उसकी तैयारी की योजना हो रही है। सो तो ठीक है। पर उसे अभी से 'बोल-चाल' की भाषा, 'मातृभाषा' और 'राष्ट्रभाषा' कहा क्यों जारहा है? हमारा सीधा पक्ष तो यह है कि कांग्रेस अँगरेजों को देखा देखी यहाँ की सीधी हिन्दी को हिन्दुस्तानी कहने लगी और कुछ परदेशियो के दबाव के कारण दोनों लिपियो को अपनाने लगी। महात्मा जी कहते हैं कि हिन्दुस्तानी जैसी किसी नई भाषा के विना हिन्दू-मुसलमान एक दूसरे को समझेंगे कैसे? हमारा उत्तर है—जैसे समझते आये हैं और अँगरेजी शासन के पहले जैसे समझते रहे हैं; और आज भी तो एक दूसरे को समझ ही रहे हैं? फिर यह कल्पना क्यों? स्मरण रहे 'हिन्दुस्तानी' पर जब तक फारसी का आवरण है तभी तक वह हिन्दी से दूर है, जहाँ उसकी फारसी लिपि हटी कि वह हिन्दुस्तान के परदेशी लोगों की कैद से छूटकर स्वदेशी बनी और हिन्दू-मुसलिम-विरोध का सारा टंटा दूर हुआ।

बाद में दूसरी। शुरू की पाठ्यपुस्तकों में शब्द दोनों मे लगभग एक ही होंगे। मेरी दृष्टि में मेरी योजना एक महान् और आवश्यक प्रयोग है। यह राष्ट्र को पुष्टि देनेवाला सिद्ध होगा और कांग्रेस के प्रस्ताव को अमली जामा पहनाने में इसका बहुत बड़ा हिस्सा रहेगा। इसलिये मुझे आशा है कि लाखों सेवक और सेविकाएँ इस योजना का स्वागत करेंगी।

प्रश्न ८ :—भाषा के स्वरूप में देश-काल की परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन होते ही रहेंगे। इसे कोई रोक नहीं सकता। इससे राष्ट्रभाषा में विदेशी भाषा के जो बहुत से शब्द आ गये हैं, और रूढ़ हो गये हैं, वे अब निकाले नहीं जा सकते। परन्तु परम्परा से राष्ट्रभाषा की लिपि तो नागरी ही चली आती है। बीच में मुगल राज्य के वक्त फारसी लिपि आ गई। अब मुगलों का राज्य नहीं है, इसलिए जिस तरह गुजराती और मराठी में बहुत से फारसी-अरबी और अँगरेजी शब्द होते हुए भी इन भाषाओं ने अपनी लिपि नहीं छोड़ी, उसी तरह राष्ट्रभाषा भी विदेशी शब्द को कायम रखते हुए अपनी परम्परागत नागरी लिपि को ही क्यों न अपनाये रहे?

उत्तर :—यहाँ परम्परागत वस्तु को छोड़ने की नहीं, बल्कि उसमें कुछ इजाफा करने की बात है। अगर मैं संस्कृत जानता हूँ और साथ ही अरबी भी सीख लेता हूँ, तो इसमें बुराई क्या है? मुमकिन है कि इससे न संस्कृत को पुष्टि मिले, न अरबी को फिर भी अरबी से मेरा परिचय तो बढ़ेगा न? सद्ज्ञान[५] की वृद्धि का भी कभी द्वेष किया जा सकता है क्या?

५—महात्माजी ने 'सद्ज्ञान' के अमोघ अस्त्र का प्रयोग कर ही दिया। तनिक ध्यान से पढें तो पता चले कि प्रश्न तो है 'लिपि' का और महात्माजी प्रसंग खड़ा कर देते हैं 'भाषा' का और समाधान करते हैं 'सद्ज्ञान' की दुहाई दे। समझ मे नहीं आता कि अरबी-फारसी अथवा उर्दू पढ़ लेने से नागरी-लिपि में 'इजाफा' क्या होगा। महात्माजी 'क़' 'ख़' और 'ग़' की ओर संकेत करते हैं? नहीं, उनके सामने तो 'सद्ज्ञान' की राशि है। कोरे ज्ञान की सो

प्रश्न ९ :—भारतीय भाषाओं के उच्चारण को व्यक्त करने की सबसे ज्यादा योग्यता नागरी लिपि में है और आजकल की फारसी लिपि इस काम के लिये बहुत ही दोषपूर्ण है। क्या यह सच नहीं ?

उत्तर :—आप ठीक कहते हैं, परन्तु आपके विरोध में इस प्रश्न के लिए स्थान नहीं है। क्योंकि जो चीज यहाँ है, उसका तो विरोध है ही नहीं[६]। परस्पर वृद्धि करने की बात है।

प्रश्न १० :—राष्ट्रभाषा की आवश्यकता है? क्या एक मातृभाषा और दूसरी विश्वभाषा काफी न होगी ? इन दोनों भाषाओं के लिए एक रोमन लिपि हो तो क्या बुरा है?

उत्तर :—आपका यह प्रश्न आश्चर्य में डालनेवाला है। अँगरेजी तो विश्वभाषा है ही, मगर क्या वह हिन्दुस्तान की राष्ट्रभाषा बन सकती है? राष्ट्रभाषा तो लाखों लोगों को जाननी ही चाहिए। वे अँगरेजी भाषा का बोझ[७] कैसे उठा सकेंगे? हिन्दुस्तानी स्वभाव से राष्ट्रभाषा है, क्योंकि वह लगभग २१ करोड़ की मातृभाषा है। सम्भव है कि २१ करोड़ की इस भाषा को बाकी के अधिकतर लोग आसानी से समझ सकें। लेकिन अँगरेजी तो एक लाख की भी मातृभाषा शायद ही कही जा सके। अगर हिन्दुस्तान को एक राष्ट्र बनाना है, अथवा एक

भी नहीं। भला फारसी लिपि का सद्ज्ञान से क्या सम्बन्ध है? रही 'उर्दू की जबान'। सो यदि 'सद्ज्ञान' ही की बात है और मुसलमानों (?) को ही 'ख़ुश करना है तो उनकी राजभाषा फारसी को ही क्यों न सीखा जाय? आखिर' कल तक हमारे पुरखा तो राजभाषा के रूप में उसे सीखते ही थे?

६—इसे हम क्या कहें, सत्य-प्रेम या देशनिष्ठा? वस्तुतः यहाँ की 'चीज' है क्या कुछ इस पर भी तो विचार होना चाहिए? अपना दोष भी क्या अपने आदर का पात्र होता है? परस्पर वृद्धि होती कैसे है, कुछ इसका भी तो ध्यान रखना होगा?

७—महात्माजी ने किसी 'लाभ' को 'बोझ' तो माना—'उर्दू' का न सही अँगरेजी का सही।

राष्ट्रभाषा है, तो हमें एक राष्ट्रभाषा तो चाहिए ही। इसलिये मेरी दृष्टि से अँगरेजी विश्वभाषा के रूप में ही रहे, और शोभा पाये; इसी तरह रोमन लिपि भी विश्वलिपि के रूप में रहे और शोभा पाये— रहेगी और शोभेगी—हिन्दुस्तान की राष्ट्रभाषा की लिपि के रूप में कभी नहीं।

---

४. डॉक्टर ताराचन्द और हिन्दुस्तानी

[महात्मा गाधी]

श्री मुरलीधर श्रीवास्तव एम० ए० ने डाक के थैले के लिये नीचे लिखा प्रश्न भेजा था :—

"जब मन में किसी चीज के लिये पक्षपात पैदा हो जाता है, तो मनुष्य इतिहास को भी विकृत बनाने बैठ जाता है। आपकी तरह डॉक्टर ताराचन्द भी हिन्दुस्तानी के चुस्त हिमायती है। उन्हें अपने विचार रखने का उतना ही अधिकार है, जितना आपको या मुझे अपने विचार रखने का है। उन्होंने यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि हिन्दुस्तानी (खडी बोली) का साहित्य व्रजभाषा के साहित्य से अधिक पुराना है और उसके उत्साह में उन्होने यह कहकर कि १६वीं सदी से पहले व्रज मे कोई चीज लिखी ही नहीं गई, व्रजभाषा के इतिहास को बहुत गलत तरीके से पेश किया है। उनके कथनानुसार १६वीं सदी में सूरदास ही पहले कवि थे, जिन्होंने व्रज में अपनी रचनाएँ कीं। चूँकि गत २९ मार्च के 'हरिजन' में आपने इन विद्वान् डॉक्टर साहब के एक पत्र का अवतरण दिया है, और चूँकि 'हरिजन' की प्रतिष्ठा और उसका प्रचार व्यापक है, इसलिये यह आवश्यक हो जाता है कि इस भूल की ओर ध्यान दिलाया जाय। सूरदास से पहले के व्रजसाहित्य के लिये केवल कबीर की रचनाएँ ही पढ़ लेनी काफी होंगी—अमीर खुसरो की तो बात ही क्या, जिनकी कुछ कवितायें व्रजभाषा में भी मिलती हैं। सूर-

दास से पहले के कई सन्तों और भक्तों की अनेक छोटी-छोटी रचनाएँ ब्रज में पाई जाती हैं, और वे हिन्दी साहित्य के किसी भी प्रामाणिक इतिहास में देखी जा सकती हैं।"

पत्र-लेखक के इस पत्र का जो अंश प्रस्तुत प्रश्न से सम्बन्ध नहीं रखता था, उसे मैंने निकाल दिया है। यह पत्र मैंने काका साहब कालेलकर के पास भेज दिया था। उन्होंने इसे डाक्टर ताराचन्द के पास भेजा था। डाक्टर ताराचन्द ने इसका नीचे लिखा जवाब भेजा है, जो अपनी कथा आप कहता है :—

मैंने अपनी जो राय दी थी कि ब्रजभाषा का साहित्य सोलहवीं सदी से ज्यादा पुराना नहीं है, उसके कारण इस प्रकार है :—

१—ब्रजभाषा एक आधुनिक भाषा है, जो तृतीय प्राकृत या 'न्यूइंडो-आर्यन' वर्ग की मानी जाती है। इस वर्ग का जन्म मध्यम प्राकृत या 'मिडिल इंडो-आर्यन' से हुआ है। दुर्भाग्य से मध्यम और तृतीय के बीच की अवस्थाओं का निश्चित रूप से कोई पता नहीं लगाया जा सकता, लेकिन ज्यादातर विद्वान् इस बात में एक राय हैं कि 'मध्यम प्राकृत' का समय ईस्वी सन् पूर्व ६०० से ईस्वी सन् १००० तक रहा।

२- मध्यम प्राकृतों को, जो एक जमाने में सिर्फ बोली भर जाती थीं, महावीर और बुद्ध द्वारा चलाये गये धार्मिक आन्दोनों के कारण साहित्यिक विकास करने का उत्तेजन मिला। इन प्राकृत भाषाओं में पाली सबसे महत्त्व की भाषा बन गई, क्योंकि वह बौद्धों के पवित्र धर्मग्रन्थों को लिखने के लिए माध्यम-स्वरूप अपनाई गई थी। महत्त्व की दृष्टि से दूसरा स्थान अर्धमागधी का रहा, जिसमें जैनियों के धर्म-ग्रन्थ लिखे गये। इनके सिवा भी कुछ और प्राकृत भाषाएँ उन दिनों प्रचलित थीं; मसलन्, महाराष्ट्री, जिसमें गीत और कविता लिखी जाती थी और शौरसेनी, जिसका उपयोग नाटकों में स्त्री-पात्रों[1] की भाषा के रूप में किया जाता था, वगैरः।

१—डाक्टर ताराचन्द को पता नहीं कि नाट्यशास्त्र में स्पष्ट लिखा है—

३—ईस्वी सन् की छठी सदी मे आते-आते प्राकृत भाषाएँ स्थिर और मृत भाषाएँ बन गई थीं। साहित्य तो तब भी उनमें लिखा जाता था, लेकिन उनका विकास बंद हो चुका था। इसी सदी में सामान्य बोलचाल की भाषाओं का, जिनमें से साहित्यिक प्राकृत का जन्म हुआ था, साहित्य की दृष्टि से उपयोग होने लगा। प्राकृत भाषाओं के इस साहित्यिक विकास के प्रचार को अपभ्रंश के नाम से पहचाना जाता है। इसका समय ईस्वी सन् ६०० से १००० तक रहा। इन अपभ्रंश भाषाओं मे एक नागर[2] भाषा ने महत्त्व का स्थान प्राप्त किया। उत्तर[3] हिन्दुस्तान के ज्यादातर हिस्सों में इसी नागर के विविध रूप साहित्यिक अभिव्यक्ति के वाहन बनकर काम में आने लगे थे। लेकिन नागर और उसके विविध रूपों के सिवा शौरसेनी-जैसी कुछ दूसरी प्राकृत भाषाओं के भी अपभ्रंशों का विकास हुआ था।

४—हिन्दुस्तान की आधुनिक भाषाओं का या तृतीय प्राकृतों का विकास इन्हीं अभ्रंश भाषाओं से हुआ है। नागर अपने एक प्रकार द्वारा राजस्थानी और गुजराती भाषाओं की जननी बनी, जिसे टेस्सीटोरी ने प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी का नाम दिया है।

शौरसेनी अपभ्रंश का रूप हेमचन्द्र के (सन् ११७२) प्राकृत व्याकरण मे प्रकट हुआ है। लेकिन शौरसेनी अपभ्रंश का नागर के

"सर्वास्वेव हि शुद्धासु जातिषु द्विजसत्तमाः।
शौरसेनी समाश्रित्य भाषा काव्येषु योजयेत् ॥" १७।४७

इसका सीधा अर्थ यह हुआ कि शौरसेनी ही उस समय की चलित राष्ट्रभाषा है।

२—डाक्टर साहब ने बड़ी चतुरी से गोलमाल कर दिया है। अच्छा और उचित तो यह था कि 'नागर' की प्रकृति अथवा उसकी जननी 'प्राकृत' का पता बताते और फिर अपने उदार पाडित्य का प्रदर्शन करते।

३—दक्षिण भारत भी इससे अछूता न बचा था। यदि सर जार्ज ग्रियर्सन को 'भाषा पड़ताल' की भूमिका पृ० १२४ को देखें तो आपकी आँख खुले और पता चले कि वास्तव मे वस्तुस्थिति क्या है।

साथ कोई सम्बन्ध निश्चित करना कठिन है। मालूम होता है कि शौरसेनी अपभ्रंश के रूप में और भी परिवर्तन हुए और वे प्राचीन पश्चिमी हिन्दी अवहत्थ, काव्य भाषा आदि विविध नामों से पुकारे गये।

५—इस भाषा के सामने आने पर मध्यम प्राकृत भाषाएँ मंच से हट जाती हैं और तृतीय प्राकृत या 'न्यूइंडो-आर्यन' भाषाओं का समय शुरू होता है। पुरानी पश्चिमी हिन्दी, जो नवीन मध्यदेशीय भाषा का बहुत पहला रूप है, ११वीं सदी में निश्चित रूप धारण करती मालूम होती है। इसी पुरानी पश्चिमी हिन्दी से उत्तरी मध्य देश की हिन्दुस्तानी (खड़ी) निकली, मध्यदेश की ब्रज निकली और दक्षिण की बुन्देली निकली। १२वी सदी में ये सब बोलियाँ थीं। आगे की कुछ सदियों में इन्होंने साहित्यिक रूप धारण किया।

६—इन भाषाओं के विकास का जो अध्ययन मैंने किया है, उससे मैं इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि हिन्दुस्तानी (खड़ी) ही वह भाषा थी, जिसका साहित्यिक[४] भाषा के रूप में सबसे पहला विकास हुआ। १४वीं सदी के आखिरी पचीस सालों से लेकर अब तक हमें हिंदुस्तानी (दक्खिनी उर्दू) का सिलसिलेवार इतिहास मिलता है। दूसरी तरफ १६ वीं सदी से पहले की ब्रजभाषा का इतिहास बहुत ही शंकास्पद[५] है।

४—डाक्टर साहब सम्भवतः 'बाबावाक्यं प्रमाणं' के पथिक हैं और 'साहित्यिक भाषा' एवं 'भाषा' के भेद से सर्वथा अनभिज्ञ हैं। अन्यथा उनकी लेखनी की जीभ से ऐसी भोंड़ी बात न निकलती। हिन्दुस्तानी के प्राचीन साहित्यिक ग्रन्थ कहाँ हैं! 'दक्खिनी' का साहित्य भी इतना प्राचीन कहाँ है?

५—डाक्टर साहब को कुछ 'ग्वालियारी' का भी पता है या यों ही 'दक्खिनी' बूक रहे हैं। अच्छा होता यदि डाक्टर महोदय ग्वालियर के राजा मानसिंह के 'मानकुतूहलम्' का अवलोकन और संगीत-परम्परा का कुछ अध्ययन करते, एवं यह भी जान लेते कि अब कुछ विद्वान् महाराष्ट्री (गीत-भाषा) को भी शौरसेनी का ही एक विकसित रूप समझने

७—आइये, १६वीं सदी से पहले के तथाकथित ब्रजभाषा-साहित्य का कुछ विचार किया जाय।

(अ) पृथ्वीराजरासो[६] का रचयिता चन्दबरदाई वह पहला कवि है, जिसने, कहा जाता है कि ब्रज (पिंगल का उपयोग किया था। यह चंदबरदाई पृथ्वीराज (१२ वीं सदी) का समकालीन माना जाता है। रासो के सम्बन्ध में एक प्रबल मत यह है कि वह एक नकली काव्य है। बुहलर, गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, ग्रियर्सन और दूसरे विद्वान् उसकी प्रामाणिकता मे सन्देह रखते हैं। उसकी भाषा में आधुनिक और अप्रचलित भाषा का अजीब मिश्रण है। उसकी कथा-वस्तु इतिहास के विपरीत पड़ती है और उसके रचयिता के बारे में भी शक है। इन प्रमाणों के आधार पर पंडित रामचन्द्र शुक्ल इस नतीजे पर पहुँचे थे कि 'यह ग्रंथ साहित्य के या इतिहास के विद्यार्थी के किसी काम का नहीं है।'

(आ) अमीर ख़ुसरो दूसरा ग्रंथकार है, जिसके लिए दावा किया जाता है कि वह ब्रज का लेखक था। सन् १३२५ में उसकी मृत्यु हुई। हिन्दी मे उसकी कविताओं. पहेलियो और दो सखुनों का कोई प्रामाणिक हस्तलिखित ग्रंथ अभी तक मिला नहीं है। लाहौर के प्रोफेसर महमूद शेरानी ने इस बात को अच्छी तरह साबित कर दिया है कि खालिकबारी (हिन्दी और फारसी शब्दों का पद्यबद्ध कोश), जो ख़ुसरो की रचना कही जाती है, उसकी रचना नहीं हो सकती।

लगे हैं। (सन् १९४२, देखिए-इंडो आर्यन एंड हिन्दी, गुजरात वर्नाक्यूलर सोसाइटी, अहमदाबाद, सन १९४२ पृ० ८५-६।)

६—ध्यान देने की बात है कि उनके विरोधी ने कहीं भूलकर भी 'पृथ्वीराजरासो' अथवा 'चन्दबरदाई' का नाम नहीं लिया है; परन्तु हिन्दुस्तानी के पुरोहित पंडित ताराचन्द उसी को जाली ठहराने में लगे हैं! क्यों? तो क्या अर्थी सचमुच दोष को नहीं देखता? हिन्दुस्तानी के उपासक सिद्ध तो यही करते हैं।

उसकी हिन्दी कविता की भाषा इतनी आधुनिक है कि भाषाशास्त्र का एक साधारण जानकार भी यह ताड़े बिना नहीं रह सकता कि वह १३वीं सदी की नहीं हो सकती। उसकी अधिकांश रचनाएँ बिलकुल आधुनिक हिन्दुस्तानी या खड़ी बोली में हैं और कुछ पर ब्रज की छाप है। डॉक्टर हिदायत हुसेन ने ख़ुसरो की रचनाओं की एक प्रामाणिक सूची तैयार की है जिसमे वे उसकी हिन्दी[७] कविताओं को कोई स्थान नहीं दे सके हैं। कुछ हिन्दी लेखकों ने ख़ुसरो के खिज्र खाँ और देवलरानी नामक काव्य का वह अंश पढ़ा है, जिसमें हिन्दी की तारीफ की गई है। इस पर स उन्होंने यह नतीजा निकाला कि ख़ुसरो हिन्दी का प्रशंसक और कवि था। लेकिन उस अंश को ध्यान से पढ़ने से यह बिलकुल साफ हो जाता है कि वहाँ ख़ुसरो का

७—कौन कहे कि डाक्टर ताराचन्द 'आँधर कूकुर बतानै भूकै' को चरितार्थ करते हैं और आँख होते हुए भी अपनी आँख से काम नहीं लेते। उनके उर्दू के पक्के मौलवी कुछ भी कहते रहें पर अल्लामा सैयद सुलैमान नदवी की घोषणा है—

अमीर (खुसरो) को अपनी हिन्दी कलाम पर जो नाज़ था वह उनके इस शेर से नुमायाँ है.........

चू मन तूतिये हिन्दम् अर रास्त पुर्सी,
जे मन हिन्दवी पुर्स ता नगज़ गोयम्।"

कितनी विलक्षण बात है कि उधर तो खुसरो यह अभिमान करते हैं कि 'वस्तुतः मैं हिन्दी तूती हूँ और यदि तू सच सच पूछे तो मुझसे हिन्दवी में पूछ जिससे मैं बढ़िया कहूँ' और इधर हमारे सपूत डाक्टर साहब इधर-उधर की बातों में यह उड़ा देना चाहते हैं कि वास्तव में अमीर खुसरो ने हिन्दी में भी कुछ रचना की। हम अभी डाक्टर ताराचन्द से केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि जनाब ज़रा उक्त सैयद साहब की 'नुकूशे सुलैमानी' का पृष्ठ ४७ भी देख लें। आशा है, आपको पता हो जायगा कि भाषा के क्षेत्र में आप कितने पानी में हैं।

मतलब[८] ब्रज या हिंदुस्तानी से नहीं था। इस नगण्य[९] से प्रमाण के आधार पर ब्रज के इतिहास का ठेठ ख़ुसरो से संबंध जोड़ना विज्ञानसम्मत तो नहीं कहा जा सकता।

(इ) आगे चलकर यह कहा गया है कि नामदेव, रैदास, धना, पीपा, सेन, कबीर आदि सन्त और भक्त ब्रज के कवि थे। इनकी बानी और पद गुरुग्रन्थ मे दिये गये हैं। वे कहाँ तक प्रामाणिक माने जा सकते हैं, सो एक अनसुलझी समस्या ही है। नामदेव एक मराठा सन्त थे, जो १३वीं सदी में हो गये; उन्होने हिन्दी में कुछ लिखा था या नहीं, सो निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। क्योंकि गुरुग्रंथ का संकलन १७ वीं सदी के शुरू मे हुआ था। दूसरे सन्तों और भक्तो की रचनाओं के कोई प्रामाणिक हस्तलिखित भी नही मिल रहे है।

इन संतों और भक्तों में १५ वीं सदी के कबीर ही सबसे ज्यादा मशहूर हैं। गुरुग्रंथ मे उनकी बहुत सी रचनाएँ पाई जाती हैं। उनकी भाषा पर पंजाबी का ज़बर्दस्त असर है। काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा ने रायबहादुर श्यामसुन्दरदासजी द्वारा संपादित कबीर की ग्रंथावली प्रकाशित की है, जो सन् १५०४ के एक हस्तलिखित के आधार पर तैयार की गई कही जाती है। लेकिन इस तिथि की प्रामाणिकता के संबंध में भी गंभीर शंकाएँ उठाई गई हैं (देखिए, डा० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल कृत 'हिंदी काव्य में निर्गुणवाद'), बहरहाल, इस संस्करण की भाषा भी गुरुग्रंथ में पाये जानेवाले पदों की भाषा

८—न सही। पर कृपया यह तो बताइए कि उसका 'मतलब' किससे था। 'संस्कृत' तो सम्भवतः आपको इष्ट नहीं, क्योंकि उसी के विनाश के लिये तो यह हिन्दुस्तानी का चक्र चला है। तो फिर अमीर खुसरो की उस हिंदी-प्रशसा का अर्थ क्या? अरे आप कुछ भी कहें, अमीर की साखी तो 'हिंदी' के पक्ष में ही है, हिंदुस्तानी अथवा 'अरबी-फारसी' के पक्ष में कदापि नहीं।

९—क्या आपको यह भी बताना होगा कि खुसरो की जन्मभाषा ब्रजभाषा ही थी और वे जन्मे भी थे ब्रजभाषा के 'एटा' प्रांत में?

से मिलती-जुलती है, और बहुत ज्यादा पंजाबीपन लिये है। कबीर ने खुद[1] कहा है कि उन्होंने पूरबी बोली का उपयोग किया है, और उनकी कई ऐसी रचनाएँ हैं, जिनकी भाषा पर राजस्थानी का बहुत प्रभाव मालूम होता है, ऐसी हालत में कबीर के ग्रन्थों की भाषा के बारे में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने इस सवाल को यह कहकर हल करने की कोशिश की है कि कबीर ने अपनी साखियों में साधुकरी (सधुक्कड़ी) का और रमैनी व शब्दों में काव्य-भाषा या ब्रज का उपयोग किया है।

लेकिन उनका यह हल शायद ही सन्तोषजनक हो। क्योंकि इससे कबीर की अपनी बात का खंडन होता है। दूसरे, प्रामाणिक दस्तावेजों[2] के अभाव में इसको सिद्ध करना भी सम्भव नहीं है।

८—इस प्रकार जितनी ही आप इन साहित्यिक रचनाओं की जाँच-पड़ताल करते हैं, उतनी ही मजबूती के साथ आपको इस नतीजे पर पहुँचना पड़ता है कि इन रचनाओं की भाषाओं के बारे में आम तौर पर लोगों की जो राय बनी हुई है, दरअसल उसके लिए बहुत कम

१—खुले, डाक्टर साहब खूब खुले। हिंदुस्तानी के डाक्टर ताराचंद जो ठहरे! 'गुरु ग्रंथ साहब' तो प्रमाण नहीं, स्वयं डाक्टर साहब प्रमाण हैं। कारण, हिंदुस्तानी के भक्त और एकता के पुजारी जो हैं। नहीं, तो आप किस आधार और किस बूते पर कह सकते हैं कि 'कबीर ने ख़ुद कहा है कि उन्होंने पूरबी बोली का उपयोग किया है!' क्या महात्मा जी एवं काका कालेलकर उनसे उक्त प्रमाण का 'दस्तावेज' माँग सकते हैं अथवा 'हिंदुस्तानी' के नाम पर सभी कुछ सम्भव और प्रमाण होता रहेगा? 'पूरबी बोली' का अर्थ यह कैसे हो गया कि वस्तुतः इसी बोली में उन्होने कविता भी की है?

२—डाक्टर साहब को फिर बताया जाता है कि कुछ सगीत-भाषा का अध्ययन करें और कृपया 'ग्वालियरी' को भूल न जायँ। ग्वालियर आज भी सगीत का अड्डा है। कबीर के 'पद' गाने ही हैं। उनकी गीत भाषा ग्वालियरी अथवा ब्रज नहीं तो क्या उर्दू वा हिंदुस्तानी होगी?

आधार है। कुछ दूसरी बातें भी इस परिणाम को पुष्ट करती हैं। यह तो एक जानी हुई बात है कि कोई भी बोली या जबान तब तक साहित्य के पद और प्रतिष्ठा को प्राप्त नहीं होती, जब तक उसकी पीठ पर कोई मजबूत सामाजिक बल न हो। यह बल[1] या तो धार्मिक हो सकता है या राजनैतिक। पाली और अर्धमागधी की जो प्रतिष्ठा बढ़ी, सो इसलिये कि ये दोनों बौद्ध और जैन सुधारों की वाहन बनी थीं। हिंदुस्तानी ने जो साहित्यिक दर्जा हासिल किया, सो इसलिये कि उसे मुस्लिम उपदेशकों और बादशाहों का सहारा मिल गया था। राजस्थानी, जो १४वीं, १५वीं और १६वी सदियों में उत्तरी हिंदुस्तान के एक बड़े हिस्से की साहित्यिक जबान थी, इसलिये बढ़ी और लोकप्रिय हुई कि उसके पीछे मेवाड़ के महान् सिसोदियाओं का बल था। जब मुग़लों ने मेवाड़ के राणाओं को हरा दिया, तो राजस्थानी भी एक प्रादेशिक भाषा बनकर रह गई।

इसी तरह जब हम व्रजभाषा का विचार करते हैं, तो हमें १६वीं सदी तक उसका समर्थन करनेवाली किसी राजनैतिक या धार्मिक हलचल का पता नहीं चलता। व्रज कभी किसी सत्ता का राजनैतिक केंद्र[2] नहीं रहा। श्री वल्लभाचार्य के व्रज में आकर[3] बसने और वहाँ कृष्ण-भक्ति के अपने संप्रदाय का प्रचार शुरू करने से पहले एक धार्मिक केंद्र के नाते भी व्रज का कोई महत्त्व न था। स्पष्ट ही वल्लभाचार्य के इस

१—क्या डाक्टर ताराचद यह बताने की कृपा करेंगे कि अवधी भाषा में साहित्य का निर्माण किस प्रकार हुआ और उसके काव्य-प्रयोग का कारण क्या हुआ? उसे भी जाने दीजिए। मैथिली का इतिहास क्या है?

२—यदि यह ठीक है तो प्राकृतों में शौरसेनी को इतना महत्त्व क्यों मिला और क्यों वही शिष्ट प्राकृत बनी?

३—श्री वल्लभाचार्य क्या, उनके पुत्र श्री विट्ठल जी भी उनके निधन के उपरांत बहुत दिनों तक 'अड़ैल' में ही रहे और फिर जाकर व्रज में बस रहे।

आंदोलन ने ब्रज की बोली[1] को वह बढ़ावा दिया, जिससे वह एक साहित्यिक भाषा का रूप धर सकी। उत्तरी हिंदुस्तान में सूरदास ने और वल्लभाचार्य के दूसरे शिष्यों ने (अष्टछाप) ब्रजभाषा के प्रभुत्व को इस कदर बढ़ाया कि उसका एक रूप सुदूर बंगाल में भी कृष्ण-भक्ति को व्यक्त करने के माध्यम के रूप मे अपनाया गया।

९ - कबीर की और दूसरे भक्तों की रचनाएँ, फिर असल भाषा कुछ ही क्यों न रही हो, खास तौर पर बरजबान याद कर ली जाती थीं, और इस तरह उनका मौखिम प्रचार ही अधिक होता था। जब ब्रज की बाढ़ जोरदार बनी, तो बड़ी आसानी से उनकी रचनाओं पर भी ब्रज का असर पड़ा और उनमें ब्रजपना[3] आ गया।

१—डाक्टर साहब को पता नहीं कि श्री वल्लभाचार्य के अनेक शिष्य उनके संप्रदाय में दीक्षित होने के पूर्व भी ब्रजभाषा के कवि थे और 'स्वामी' के रूप में ख्यात भी थे। इतिहास का यह अछूता और अधकचरा ज्ञान किसी डाक्टर का तो कुछ नहीं बिगाड़ सकता पर किसी परीक्षार्थी का सर्वस्व हर सकता है। शोध की दृष्टि से देखो तो पता चले कि वल्लभाचार्य ने वस्तुतः क्या किया। ब्रजभाषा-साहित्य को जन्म दिया अथवा स्थिति को अनुकूल बना उससे लाभ उठाया। स्मरण रहे, श्री वल्लभाचार्य के उदय के पहले ही कृष्ण-लीला का विस्तार हो चुका था और ब्रजभाषा में न जाने कितनी पद-रचना हो चुकी थी।

२—बंगाल कितने दिनो से ब्रजभक्त है इसका पता 'जयदेव' और 'चंडीदास' बता सकते हैं। 'ब्रजबुली' साहित्य का श्रेय वल्लभाचार्य को नहीं, गौरांग प्रभु को है। चैतन्य के शिष्यो वा बंगालियो को कृष्णदास ने किस प्रकार खदेड़ा इसको 'वार्ता' में पढ़ देखिए। यह जान लीजिए कि 'वैभव बढ़ाने' के लिये ही यह काड रचा गया। हाँ, ब्रज-साहित्य-उत्कर्ष में अवश्य ही वल्लभाचार्य का विशेष हाथ है, पर उदय में नहीं।

३—उर्दू का इतिहास पुकारकर बताता है कि उर्दू ब्रज को 'मतरूक' कर आगे बढ़ी और उसके प्रभाव तथा भ्रष्ट लिपि के कारण ही ब्रज के अनेक रूप खड़ी बोली के रूप पढ़े गये। इसी से 'आजाद' ने उर्दू को ब्रजभाषा की

१०—जिन कारणों से मैं यह मानता हूँ कि ब्रजभाषा में ऐसा कोई असली[1] साहित्य नहीं है, जो १६वीं सदी से पहले का कहा जा सके, वे कारण ऊपर मैं संक्षेप में दे चुका हूँ। लेकिन इस तरह के विचार सिर्फ मेरे ही नहीं हैं। प्रयाग विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के अध्यक्ष डा० धीरेंद्र वर्मा ने भी, जो सचमुच ही हिंदुस्तानी के खास पक्षपाती नहीं हैं, हिंदी साहित्य के[2] अपने इतिहास में और ब्रजभाषा के व्याकरण में इन्हीं विचारों को व्यक्त किया है, जो उनकी इन पुस्तकों मे देखे जा सकते हैं।" ~

———

वेटी कहा है। 'ब्रजपना' 'साखी' मे क्यों नही आया ? कुछ इसका भी विचार है ? 'साखी' का प्रचार और 'रमैनी' 'शब्द' से कहीं अधिक है। समझा न ?

१ डाक्टर साहब से हमारा साग्रह अनुरोध है कि कृपा करके १६वीं शती से पहले की हिंदुस्तानी यानी उर्दू के असली साहित्य को प्रकट करें और एक वार डाक्टर सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या की नवीन पुस्तक 'इंडो आर्यन एंड हिन्दी' का आँख खोलकर अध्ययन करें और फिर देखें कि वस्तुस्थिति वस्तुतः क्या है। उक्त पुस्तक गुजरात वर्नाक्यूलर सोसाइटी, अहमदाबाद से साढ़े तीन रुपये में मिल जायगी और आशा है डाक्टर साहब को कुछ ठीक ठीक सुझा सकेगी। डाक्टर साहब को समझ लेना चाहिए कि 'दक्खिनी' उर्दू नही है। उर्दू से उसका स्पष्ट भेद समझना हो तो 'दक्खिनी' 'आगाह' का यह शब्द सुनें और इसकी पंडित-शैली को भी देखें। कहते हैं—

"और उर्दू के भाके में नहीं कहा। क्या वास्ते कि रहनेवाले यहाँ के इस भाके से वाकिफ नही हैं। ऐ भाई! यह रिसाले दक्खिनी जबान में हैं।" (दास्ताने उर्दू, लक्ष्मीनारायन अग्रवाल, आगरा, पृ० ४८)

२—डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा के उक्त इतिहास का पता नहीं। हाँ, यदि डाक्टर साहब का तात्पर्य डाक्टर रामकुमार वर्मा के इतिहास से है तो बात ही और है। हमें उसके सम्बन्ध में कुछ नही कहना है।

५—हिंदुस्तानी

[श्री काका कालेलकर]

किसी समस्या को हल करने की कोशिश में हम कभी-कभी नई समस्याएँ पैदा करते हैं। राष्ट्रभाषा को समस्या हल करते-करते हिंदी और हिंदुस्तानी का सवाल खड़ा हुआ। राष्ट्रभाषा का कार्य क्या है, यह जब तक हमने तय, नहीं किया है, तब तक इसमें से अनेक गुत्थियाँ पैदा होनेवाली हैं।

यह देखकर कि देश में चंद लोग हिंदी को राष्ट्रभाषा कहते हैं और चंद हिंदुस्तानी को, एक मित्र ने बीच का रास्ता निकाला है। वे कहते हैं. हिंदी तो हमारी राष्ट्रभाषा है, और हिंदुस्तानी[1] सारे देश की सामान्य बोलचाल की भाषा।

जो लोग मानते हैं और कहते हैं कि हिंदुस्तान में दो राष्ट्र हैं एक हिंदुओं का और दूसरा मुसलमानों का, वे तो आसानी से कह सकते हैं कि हिंदुओं की राष्ट्रभाषा है,—उर्दू मुसलमानों की और हिंदुस्तानी जैसी कोई चीज़ ही नहीं है। इनके विचार में हिंदुस्तान के लिये दो राष्ट्रभाषाएँ हो सकती है, अगर इन्हें पूछा जाय कि फिर पारसियों का और ईसाइयों का क्या? बौद्धों का और यहूदियों का क्या? तो वे कहेंगे कि वे भी अपनी-अपनी भाषाएँ चलायें, हमें एतराज़ नहीं, देश के जितने टुकड़े हो जायँ, अच्छे ही हैं।

जो लोग कहते हैं कि हिंदुस्तान हिंदुओं का ही है, उनका रास्ता

१—इस प्रसंग में भूलना न होगा कि डाक्टर सुनीति-कुमार चाटुर्ज्या जैसे भाषामनीषी इसे 'हिंदुस्थानी' कहते हैं, कुछ 'हिंदुस्तानी' नहीं। कारण, उनकी शुद्ध दृष्टि में 'हिंदुस्तानी' भी 'उर्दू' का ही पर्याय है कुछ 'हिंदी' का नहीं। आज भी महाराष्ट्र और बंगाल प्रभृति प्रांत हिंदी को ही हिंदुस्थानी कहते हैं कुछ 'उर्दू' का नहीं। उर्दू तो उनकी दृष्टि में 'मुसलमानी' है।

भी विलकुल आसान है। वे कहेंगे कि दूसरे सब धर्मों के लोग हिंदुस्तान मे आश्रित होकर हो रह सकते है, और उन्हें हिदुओं की हिंदी ही राष्ट्रभाषा के तौर पर सीखनी होगी।

लेकिन देश मे राष्ट्रीय वृत्ति के असंख्य लोग हैं, जो हिंदुस्तान को हिंदू मुस्लिम, सिख, ईसाई. यहूदी, पारसी सबका स्वदेश[1] मानते हैं। वे दो भाषाओं का पुरस्कार किस तरह से कर सकते हैं?

हम जानते हैं कि हिंदी ही को राष्ट्रभापा कहनेवाले लोगों में भी ऐसे वहुत से लोग हैं जो बिलकुल राष्ट्रीय वृत्ति के है। वे हिंदी में से अरबी फ़ारसी के रूढ[2] शब्दोंका बहिष्कार नहीं चाहते। हिदी सबकी भाषा है, केवल हिंदुओं की नहीं। हिंदी के ऊपर पारसी ईसाई आदि सबो का उतना ही अधिकार है जितना हिदुओ का है इसलिये राष्ट्रभापा के प्रश्न को सांप्रदायिक नहीं बनाना चाहिए, ऐसा भी वे कहते है। उर्दू के खिलाफ उनकी इतनी[3] ही

१—परतु विचारणीय वात यह है कि क्या स्वय मुसलिम भी हिंदुस्तानी को अपना 'स्वदेश' मानते हैं। और तो और, उर्दू के प्रसिद्ध स्व० कवि सर शेख मोहम्मद इक़बाल जो मूलतः कश्मीरी ब्राह्मण थे और कभी 'हिंदी हैं हम वतन है हिंदोस्ताँ हमारा' का पाठ पढाते थे अत मे 'मुसलिम हैं हम वतन है सारा जहाँ हमारा' का डका पीटकर मरे। उर्दू साहित्य में तो कोटियो प्रमाण भरे हैं जिनसे सिद्ध होता है कि मुसलिम कभी भी हिन्दुस्तान को अपना 'स्वदेश' नहीं समझते। उनका 'स्वदेश' तो ईरान-तूरान अथवा अरब है। यहाँ तक कि होते-होते आजमगढ़ के स्व० मौलाना शिवली भी 'बिनवली' से 'नुअमानी', हिन्दी से ईरानी बन गए।

२—ध्यान देने की बात है कि अरबी-फारसी रूढ शब्दो का बहिष्कार कोई भी विवेकशील कट्टर हिन्दी-भक्त भी नही चाहता है पर वह यह मान नही सकता कि किसी टोली विशेप मे प्रचलित सभी अरबी-फ़ारसी शब्द रूढ अथवा ठेठ हो चुके हैं।

३—यदि बात यही होती तो राष्ट्रभाषा का प्रश्न कभी सुलझ गया होता। उर्दू के प्रति हमारी सबसे बडी शिकायत तो यह है कि उसकी प्रवृत्ति अरबी-

शिकायत है कि उसमें अरबी-फ़ारसी के शब्दों की भरमार हद से ज्यादा है। अरबी और फ़ारसी दोनों भाषाएँ न हिंदुस्तान में बोली जाती हैं, न उनका अध्ययन हिंदुस्तान के अधिकांश लोग करते हैं। राष्ट्रभाषा तो ऐसी हो कि जिसमें देशी शब्द[1] ज्यादा हों और प्रांतीय भाषाओं के लिये वह बहुत-कुछ नज़दीक हो। जिन लफ्जों को अधिक से अधिक लोग जानते हैं, वे कहीं से भी आये हों, राष्ट्रभाषा के ही समझे जाने चाहिएँ।

उर्दू के बारे में उनकी दूसरी शिकायत यह है कि उर्दू की लिपि परदेश से आई हुई है अवैज्ञानिक है, और उसका प्रचार बिलकुल परिमित है। राष्ट्रभाषा की लिपि तो स्वदेशी ही होनी चाहिए। अधिक से अधिक लोग समझ सकें, वैसी ही होनी चाहिये। और अगर वह वैज्ञानिक है, तो और भी अच्छा। कम से कम राष्ट्रलिपि ऐसी न हो, कि जिसमें देशी ध्वनियाँ ठीक-ठीक व्यक्त ही न हो सकें, और जो देशी शब्दों को तोड़-मरोड़कर उनका रूप ही बिगाड़ डाले।

सबसे पहले हमें यह समझना चाहिए कि राष्ट्रभाषा का सवाल केवल वैज्ञानिक नहीं है। वह मुख्यतः सामाजिक है। उसमें राजनैतिक और ऐतिहासिक बातें भी आ सकती हैं, लेकिन मुख्यतया राष्ट्रभाषा का सवाल सामाजिक और राष्ट्रसंगठन का है। एक राष्ट्रीयता को दृढ़ करने की दृष्टि से ही राष्ट्रभाषा का महत्त्व है।

फ़ारसी वा अहिंदी है। उसका इस राष्ट्र से नाता नहीं। वह सदा इस राष्ट्र से बिचकती और ईरान-तूरान वा अरब का दम भरती है। वह जन्मी तो यहाँ पर हो गई परितः वहाँ की। उसने अपने कुल को त्याग कर दूसरे के कुल को अपना लिया।

१—हमें इस व्यापक भ्रम से शीघ्र मुक्त होना चाहिए। वास्तव में भाषा शब्दों के जोड़ से नहीं बनती कि उसमें भिन्न भिन्न भाषाओं के शब्दों का अनुपात निकाला जाय। भाषा तो किसी राष्ट्र वा व्यक्ति की व्यक्ति का नाम है। वह अपने राष्ट्र वा व्यक्ति की प्रवृत्ति को छोड़ नहीं सकती। राष्ट्रभाषा में हम उसी 'प्रवृत्ति' को ढूँढ़ते हैं, कोरे शब्दों को नहीं।

हमें एक राष्ट्रीयता के महत्त्व के तत्त्व प्रथम सोच लेने चाहिएँ।

हिंदुस्तान एक जिन्सी राष्ट्र नहीं हैं। यह भिन्न जाति के, भिन्न-भिन्न संप्रदाय के, भिन्न भाषाएँ बोलनेवाले लोगों का, लेकिन एक ही समृद्ध और संगठित संस्कृति का, एक राष्ट्र[1] बन चुका है। इसीको मज़बूत बनाने का सवाल है। जहाँ-जहाँ विविधताएँ एकता को तोड़ने की कोशिश करती हैं, वहाँ-वहाँ उन पर अंकुश चलाकर उन्हें एकता की मददगार बनाना है। इसलिये हिंदुस्तान की राष्ट्रभाषा मे विविधता के सब तत्त्वों का स्वीकार करते हुए, उसमे एकता को दृढ़ करने की कोशिश करनी है। अहिंसा, प्रेम, प्रेमोचित त्याग और सर्व-समन्वय के मार्ग से ही हम भारतवर्ष की मूलभूत एकता को दृढ़ कर सकते हैं।

हिंदुस्तानी को सिर्फ बोल-चाल की भाषा कहना और उसे राष्ट्र-भाषा का स्थान न देना, हिंदुस्तान की एक राष्ट्रीयता को कमज़ोर बनाना है[2]।

जब हिंदुस्तान की संस्कृति ही संमिश्र (कॉम्पोजिट) है, तब कोई भी भाषा तब तक हिंदुस्तान की राष्ट्रभाषा नहीं बन सकती, जब तक

१—यदि अपराध क्षमा हो तो इतना और निवेदन कर दिया जाय कि उक्त राष्ट्र की एक 'राष्ट्रभाषा' भी कभी की बन चुकी है और जैसे आज उस राष्ट्र के विच्छेद का काम 'मुसलिम लीग' कर रही है वैसे ही उस 'राष्ट्रभाषा' के विच्छेद का काम कभी (मोहम्मदशाह रंगीले के शासन १७४४-१७४५ ई० में) उर्दू (दरबार) के ईरानी-तूरानी दल ने किया था। अस्तु, राष्ट्र के क्षेत्र में जो 'पाकिस्तान' है भाषा के क्षेत्र में वही 'उर्दू' है। इसमें तनिक भी संदेह नहीं।

२—यह तर्क नहीं अभिशाप है जो मूलतः भाषाओं की अनभिज्ञता के कारण उठा है और पटु परदेश-प्रिय मुसलमानों के घोर प्रयत्न के कारण प्रचार में आया है। इसे हम चाहें तो इस रूप में भी समझ सकते हैं कि जैसे 'पाकिस्तान' ने 'दारुल इसलाम' की जगह ली वैसे ही हिंदुस्तानी ने उर्दू की। रंग वही पर ढंग में थोडा अंतर है।

उसमें संस्कृति के इन सब संमिश्र[1] तत्त्वों का अंतर्भाव न हो। राष्ट्र-भाषा ऐसी होनी चाहिए, कि जो हिंदू, मुसलमान, पारसी, ईसाई सबों को अपनी सी लगे।

जो लोग मानते हैं कि प्रांतीय भाषाओं में केवल प्रांतीय संस्कृति ही व्यक्त होगी, और हिंदी में राष्ट्रीय संस्कृति, वे बड़ी ग़लती करते हैं। असल बात तो यह है कि प्रांतीय संस्कृति जैसी कोई चीज़ ही नहीं है। प्रांतीय भाषाओं में अपनी-अपनी विशेषताएँ हो सकती हैं. लेकिन प्रांतीय साहित्य में यह ज़रूरी नहीं है कि वह केवल प्रांतीय ही हों। किसी भी प्रांतीय भाषा ने यह निश्चय नहीं किया है. कि उसकी विविधता और समृद्धि हिंदी की विविधता और समृद्धि से कम हो। जो अच्छी-अच्छी बातें बँगला साहित्य में पाई जाती हैं, उन सबको मराठी या गुजराती में लाने की मेरी कोशिश रहेगी ही। कन्नड़, तेलगू या तामिल भाषा बोलने वाले लोगों को क्या इससे संतोष होगा, कि चूँकि अन्य प्रांतीय साहित्य में जो कुछ अच्छा है, वह हिंदी में पाया जाता है. इसलिये उसका अनुवाद अपनी भाषा मे न हो, तो भी चलेगा? हरएक प्रांतीय भाषा दिन पर दिन समृद्ध होती ही चलेगी।

हिंदी-भाषी लोग अगर अन्य प्रांतों से ज्यादा उत्साही रहे, और उन्होंने अपनी सब भगिनी भाषाओं से ज़ोरों से लेना शुरू किया तो उसकी समृद्धि बढ़ेगी ही। लेकिन हिंदी की अपेक्षा यह दीख पड़ती है, कि हिंदी जिनकी जन्मभाषा नहीं है, ऐसे लोग हिंदी सीखें और अपने-अपने प्रान्त में जो कुछ भी हो, उसका हिंदी में अनुवाद करके अपनी बड़ी बहन के खज़ाने में उतना करभार[2] पहुँचा दें।

१—क्या कोई भी अभिज्ञ व्यक्ति यह सिद्ध कर सकता है कि हिंदी में 'इन संमिश्र तत्वों' का अभाव है? हम नहीं समझ पाते कि वस्तुतः श्री काका कालेलकर का इष्ट क्या है। सच तो यह है कि जो हिंदी को अपना नहीं समझता वही उसको राष्ट्रभाषा हिंदी से भी दूर भगाता है। कोई कहने को कुछ भी कहे पर इतिहास और साहित्य की साखी तो यही है। देखने का कष्ट करें।

२—हिंदी अपनी छोटी बहिनों से 'कर' नहीं चाहती। वह तो चाहती है

यह तो तब हो सकेगा, जब हिंदी अपनी प्रांतीयता छोड़कर, और सांप्रादायिक न रहकर, राष्ट्रीय यानी संमिश्र रूप धारण करेगी—अर्थात् जब वह हिंदुस्तानी[1] बनेगी। हिंदी में इस राष्ट्रीयता को धारण करने के सब तत्त्व हैं, इसलिये हिंदी को ही हिंदुस्तानी का रूप देने की कोशिश की गई। लेकिन चंद लोग इस कोशिश को हज़म नहीं कर सके। उन्हें डर लगा कि हिंदुस्तानी बनते-बनते शायद हिंदी-उर्दू बन जायगी। इस वास्ते उन्होंने हिंदी को हिंदी ही रखकर, हिंदी और उर्दू को राष्ट्रभापा का स्थान देना पसंद किया जो भापा आंतप्रांतीय बोलचाल की, यानी सांस्कृतिक विनिमय की भाषा नहीं बन सकती, वह हिंदुस्तान की राष्ट्रभापा भी नहीं बन सकती। न हम उसे राष्ट्रभाषा कह सकते हैं।

अब श्रेय इसी मे है कि हम हिंदी को राष्ट्रभाषा का एक अंग कहें—हम चाहें तो उसे प्रधान अंग कह सकते है—किंतु हिंदी और उर्दू मिलकर[2] ही राष्ट्रभाषा बन सकती है। उसका

कि उसे अपना 'ज्येष्ठाश' मिले और सभी बहिनो की अनुपम राशि एकत्र रहे। उसका हृदय इतना उदार रहे कि सदा को भाँति सभी बहिनें उसे अपनी माता के स्थान पर पायें और उसके स्नेह से अपने को और भी स्निग्ध करें।

१—कितनी विलक्षण सूझ है। सच है—'आरत-के चित रहत न चेतू।' हिदी में 'प्रातीयता' है तो कौन सी, कुछ इसे भी तो बताना चाहिए या योंही हिंदुस्तानी के जोम मे कुछ भी लिख जाना ही स्वधर्म है। रही 'साप्रदायिकता' की बात। सो उसके विषय में मौन रहना ही उचित है क्योंकि हिंदू कुछ भी करे वह मुसलिम-दृष्टि मे असांप्रदायिक हो नही सकता। क्या महात्मा-गान्धी पर भी इसी 'साप्रदायिकता' का आरोप नहीं होता? फिर इस हौवा का भय क्या?

२—इस न्याय के आधार पर हम चाहें तो कह सकते हैं कि पाकिस्तान और हिंदुस्तान मिलकर ही राष्ट्र बन सकता है और उसका नाम है गड़बड़िस्तान।

नाम हिंदुस्तानी है, इस बारे में देश में अब कहीं[1] भी मतभेद नहीं रहा।

वही संस्कार-संपन्न हिंदुस्तान की बोलचाल की अर्थात् सांस्कृतिक व्यवहार की भाषा है।

६—हिंदुस्तानी का आग्रह क्यों ?

'जितने मुँह उतनी बात' की कहावत हिंदुस्तानी पर अक्षरशः सत्य उतरती है। जिसे देखिये वही हिंदुस्तानी पर कुछ कहने के लिये मुँह खोले खड़ा है पर जानता इतना भी नहीं कि वस्तुतः हिंदुस्तानी-आंदोलन का रहस्य क्या है और किस प्रकार वह हिंदी को चरने के लिये खड़ा हुआ है। सबसे पहले उस फोर्ट विलियम कालेज (स्थापित सन् १८००-ई०) को ही ले लीजिये जिसके विषय में बार बार अनेक मुँह से अनेक रूप में कहा गया है कि वहीं नागरी वा उच्च हिंदी को जन्म दिया गया और वहीं से डाक्टर गिलक्रिस्ट के प्रभुत्व एवं श्री लल्लूजी लाल के प्रयत्न से हिंदी का प्रसार हुआ। परंतु वहाँ होता क्या है, इसे स्वयं उन्हीं डाक्टर गिलक्रिस्ट के मुँह से सुन लीजिये और सदा के लिए टाँक लीजिये कि वस्तु-स्थिति सचमुच क्या है। अच्छा तो स्वयं डाक्टर गिलक्रिस्ट कहते हैं—

"In the Hindoostanee, as in other tongues, we might enum-

अतः यदि हमें गङ्गउडिस्तान प्रिय है तो हमें 'हिंदुस्तानी' का स्वागत करना ही चाहिए नहीं तो 'न नव मन तेल होई न राधा नचिहैं' की कहावत तो प्रसिद्ध ही है।

१—कहिए, इस 'कहीं' का अर्थ कोई क्या समझे ? सच है, 'ढूँढ़हु आँख-कतहुँ कोउ नाहीं।'

erate a great diversity of styles, but for brevity's sake I shall only notice three here, leaving their sub-divisions to be discussed along with the history of the language, which has been reserved for the second volume. 1st, The High court of persian style, 2nd, the middle or genuine Hindoostanee style, 3rd, the vulgar or Hinduwee.

In the more elevated poems of Souda, Wulee, Meerdurd, and others, and in the effected pompous, pedantic language or literature and politics, the first is predominant and leans to Arabic and Persian agreeably to circumstances.

The elegy of Miskeen, the satires of Souda, Hindoostanee Tales, and the Articles of War in the Oriental Linguist, the speech of well-bred Hindoostanee Monshees and servants are the best specimens I can recollect of the middle style while the 3rd or Hinduwees is evident in Mr. Fostor's unaffected translations of the Regulations of Government, in all or the greatest part of Hindoostanee composition written in the Nagree character, in the dialect of the lower order of servants and Hindoos, as well as among the peasantry of Hindoostan ....The Preference which I give the middle style over the others must appear in every page of my works, as it is in truth central regulator or tongue by which we perceive the ascending and descending scales on either side." (Appendix to Gilchrist's Dictionary).

डाक्टर गिलक्रिस्ट ने अभी अभी जो कुछ कहा है उसका सारांश यह है कि वैसे तो सभी भाषाओं की भाँति हिंदुस्तानी की भी कई शैलियाँ हैं किंतु उनमें से तीन मुख्य हैं जिनमे से पहली तो दरबार और ऊँची उर्दू शाइरी की शैली है और दूसरी अच्छे मुंशियों और

हल्की उर्दू शाइरी की। रही तीसरी, सो उसके विषय में उक्त डाक्टर साहब का कहना है कि वह फूहड़ों और सरकार की उन कानून की पोथियों की भाषा है जिनकी रचना उस समय फोर्ट विलियम में हिंदी भाषा व 'नागरी अक्षर' में की गई थी। इनमें से स्वयं डाक्टर गिलक्रिस्ट ने जिस शैली को सदा प्रोत्साहन दिया वह मध्य की मुंशी शैली अर्थात् स्पष्टतः हल्की उर्दू थी।

यहाँ पर ध्यान देने की बात है कि फोर्ट-विलियम-सरकार ने जिस जन-वाणी और जिस जन-लिपि का उपयोग अपने आईन के अनुवादों में किया था उसी लोक-वाणी और उसी लोक-लिपि की उपेक्षा उसी के फोर्ट-विलियम कालेज में उसी के डाक्टर गिलक्रिस्ट के कर-कमलों के द्वारा हुई और हिंदुस्तानी हिंदुस्थानी वा हिंदी न रहकर पक्की हिंदोस्तानी वा उर्दू बन गई। उसकी लिपि भी नागरी से फारसी हो गई। हाँ, इस प्रसंग में कभी भी भूलना न होगा कि फोर्ट-विलियम की सरकार के कागदों में कहीं भी 'हिंदुस्तानी भाषा' और 'फारसी अक्षर' का विधान नहीं है। अर्थात् डाक्टर गिलक्रिस्ट की हिंदुस्तानी कहीं भी नहीं है। वहाँ तो फारसी भाषा और फारसी अक्षर एवं हिंदी (हिंदुस्तानी एवं नागरी भी) भाषा और नागरी (कहीं-कहीं हिंदी भी) अक्षर का ही विधान है। तात्पर्य यह कि यहाँ की जन-वाणी और यहाँ की जन-लिपि की उपेक्षा इसी फोर्ट-विलियम कालेज की उपज है जिसके उत्पादक स्वयं श्रीमान् डाक्टर गिलक्रिस्ट साहब ही हैं। डाक्टर गिलक्रिस्ट की देख-रेख में जो भाषा पनपी उसी को लक्ष्य कर सर सी० ई० ट्रेवेल्यन जो बाद में मद्रास के गवर्नर (१८५८-६० ई०) हो गये थे, सन् १८३४ ई० में लिखते हैं—

"The Arabian Hindoostanee, which has grown up at Calcutta under the fostering patronage of Government, and is spoken by the Moonshees of the College of Fort William, and the Mouluvees and students of the Mahomedan College, is quite a differant language from that which prevails in any other

part of India." (Application of the Roman Alphabet by M. Williams. M. A. Longman, London, 1869 p. 29)

सारांश यह कि अरबी हिंदुस्तानी जो कलकत्ता में सरकार के पालन-पोषण मे बढ़ी और फोर्ट विलियम कालेज के मुंशियों में बरती गई और मोहेम्मेडन कालेज के मौलवियों और विद्यार्थियों में चलती रही हिंदुस्थान के किसी खंड की भी भाषा से सर्वथा भिन्न थी। अरबी हिंदुस्तानी जो ठहरी। स्मरण रहे डाक्टर गिलक्रिस्ट इसी के भक्त थे।

अच्छा, तो डाक्टर गिलक्रिस्ट की उक्त हिंदुस्तानी-नीति का अवश्यम्भावी परिणाम यह हुआ कि १९वी शती के मध्य में हिंदुस्तानी का अर्थ हिंदी नहीं केवल उर्दू हो गया और वह उर्दू के पर्याय मे हिंदी के साथ द्वंद्व भाव से चलने लगी। फलतः हिंदी और उर्दू के द्वंद्व ने हिंदी और हिंदुस्तानी के द्वंद्व का रूप धारण कर लिया। इस समय हिंदुस्तानी किस शैली का नाम था इसका यथार्थ बोध सर रिचर्ड टेंपुल के इस कथन से हो जाता है—

"The tongue of Moslems in India was wont largely to be Persian, but since the middle of the sentury (19th) it has become Hindoostanee, formerly called ordu, which is still the official language of the courts in the districts round Lahore, Delhi, Agra, Lucknow. Elsewhere the official Language of the courts is the language of the region, that is to say, Bengali for Bengal, Oorya for Orissa. Hindi for Behar and Benares, Mahratti for Nagpore and the Central Deccan to Bombay, Gujerathi for the Western Coast, Telegu for the Southern Deccan and the Eastern Coast. Kanarese for the South, Western Coast, and Tamil for the Southern peninsula. Of these main Languages, all save the Hindoostanee and the Tamil are derived from Sanskrit." (Progress of India etc. in the Century, The nineteenth century Series W. & R. Chamlns, London, 1902. P. 181.)

भाषा-शास्त्र की दृष्टि से सर रिचर्ड टेंपुल का यह कथन कि हिंदुस्तानी संस्कृत से नहीं निकली है, खटक सकता है पर सोचिए तो सही उर्दू का संस्कृत से मूल वा प्रकृति के अतिरिक्त कोई और भी संबंध है ? स्मरण रहे, सर रिचर्ड टेंपुल कोई साधारण जीव न थे। वे ईस्ट इंडिया कंपनी के एक सामान्य कर्मचारी से बढ़कर बंबई प्रांत के गवर्नर (१८७७-८०) तक हो गये थे और भारत के विषय में जो कुछ लिखते थे प्रमाण की दृष्टि से देखा जाता था। उनके कथन पर आपको विचार करना ही होगा और यह भी बताना ही होगा कि हिंदुस्तानी टाटबाहर क्यों है ?

डाक्टर गिलक्रिस्ट की कृपा से हिंदुस्तानी किस प्रकार हिंदी से उर्दू हो गई यह तो प्रगट हो गया पर अभी यह देखने में नहीं आया कि फोर्ट विलियम की हिंदी, हिंदुस्तानी वा नागरी क्या हुई, अथवा स्वयं डाक्टर गिलक्रिस्ट की फूहड़ वा हिंदुई कहाँ गई। कहने की बात नहीं कि डाक्टर गिलक्रिस्ट ने जिसे 'वलगर' फूहड़ वा गवाँरी कहकर टाल दिया था वही देश की सच्ची भाषा हिंदुई वा हिंदी थी। उसी को भाषाविदों ने 'प्रकृति' वा मूल भाषा माना और उसी के महत्त्व वा प्रतिष्ठा के लिए हिंदी का आंदोलन भी खड़ा हुआ। परंतु उस समय तक डाक्टर गिलक्रिस्ट की नीति इतना फल ला चुकी थी कि उसके सामने हिंदी का सफल होना असंभव था। फिर भी इस आंदोलन का प्रभाव इतना तो पड़ा ही कि उच्च हिंदी को भी हिंदुस्तानी का अंग मान लिया गया। प्रसंगवश यहाँ इतना और जान लेना चाहिए कि जहाँ 'हिंदुस्तानी' शब्द उर्दू का पर्याय हो गया वहीं सदा से 'हिंदुस्थानी' शब्द का वाचक रहा है। आज या कल से नहीं, प्रत्युत बहुत पहले से यह 'हिंदुस्थानी' शब्द 'हिंदी' के पर्याय के रूप में चला आ रहा है और बहुत से पुराने अंगरेजों के लेखों में पाया भी जाता है। परिणाम यह हुआ कि भाषाविदों ने भ्रमवश हिंदुस्तानी को तो देश-भाषा मान लिया और हिंदुस्थानी या हिंदी को उसकी शैली का पद दिया। सरकार अथवा गिलक्रिस्ट की कृपा से कैसी उलटी गंगा बही! बात यह थी कि मुगल-शासन की अधीनता में काम करने के कारण अंगरेज बहादुरों को फारसी ही

अत्यंत प्रिय थी। निदान 'हिंदुस्तानी' का फारसी रूप ही सरकार को ग्राह्य हुआ। और भाषा-विज्ञान की पुस्तकों में भी वही हिदुस्तानी नाम चलता रहा और कांग्रेस ने भी उसी को अपनाया। परिणाम यह हुआ कि 'हिंदुस्तानी' शब्द के भीतर अनेक संकेत आ मिले और वह संदेह का कारण हो गया। आज स्थिति यह हो रही है कि इसी 'हिंदुस्तानी' को प्रमादवश राष्ट्र-भाषा का नाम दिया जा रहा है—व्यवहार में इसका अर्थ निकलता है कि वास्तव मे उर्दू ही राष्ट्रभाषा है। इसका मुख्य कारण यह है कि प्रयोग की बहुलता से हिंदुस्तानी उर्दू के पर्याय के रूप में ही प्रसिद्ध है और वह मूल हिदुस्तानी अथवा ठेठ हिंदी से सर्वथा भिन्न है। हिंदी, हिंदुस्तानी एवं उर्दू की इसी स्थिति को स्पष्ट करने के लिए डाक्टर सुनीतिकुमार जैसे अद्वितीय भाषा-शास्त्री ने लिखा है—

"Hindi is the oldest and simplest names for the current speech of Northern India (from the East of the Panjab to Bengal) after the Turkey conquest in the 12th-13th centuries, and I use it in its old connotation which is still present among the masses. Hinbustani is a much later, and a more cumbrous forma-tion: as a pure Persian word, it has largel come to mean something synonymous with the Mohammedan form of the Hindi speech, namely, urdu, with its superabundance of Persian and Perso-Arabic words to the restriction and exclusion of the native Hindi and Sanskrit elements. Some students of Indian Linguistics, and political and social workers of the Indian National Congreess and other organisations, have sought to employ this Persian word Hindoostanee in a wider sense, to mean the basic speech underlying both High-Hindi (Nagari-Hindi) and Urdu, but in spite of their efforts, most Englishmen and other foreigners and a good many

Indian Musalmans still continue to look upon the two terms Hindustani and Urdu to mean the same style of the Hindi Language, written in the Persian script and preferring a Perso-Arabic vocabulary." (Indo-Aryan and Hindi, Gujrat Vernacular society Ahmedabad—1942 P. 131.)

डाक्टर सुनीति कुमार चाटुर्ज्या ने थोड़े में स्थिति स्पष्ट कर दी और यह भी भलीभाँति बता दिया कि हिंदुस्तानी लाख प्रयत्न करने पर भी उर्दू ही का साथ दे रही है। उन्होंने यह भी सप्रमाण सिद्ध कर दिया है कि उन्हें परंपरागत हिंदी शब्द ही क्यों प्रिय है। हम तो यहाँ पर केवल इतना ही कह संतोष करना चाहते हैं कि हिंदी जैसे प्यारे, सारगर्भित और निर्दोष शब्द को छोड़कर कलहप्रिय आधुनिक हिंदुस्तानी शब्द को ग्रहण करना बुद्धिमत्ता नहीं, विद्या नहीं, विवेक नहीं और चाहे जो कुछ हो।

हाँ, तो उक्त चाटुर्ज्या महोदय का यह भी कहना है कि कांग्रेस जो ठेठ हिंदुस्थानी भाषा के आधार पर हिंदू मुसलिम-समझौता की दृष्टि से फारसी-अरबी के विदेशी शब्दों एवं देशी तथा संस्कृत शब्दों के सम-योग से एक नई भाषा वा शैली का निर्माण कर उसे हिंदुस्तानी के नाम से चालू करना चाहती है वह व्यवहार में ऐसी फारसीमयी हिंदुस्तानी हो जाती है जिसे बंगाली, महाराष्ट्री, गुजराती, आंध्र, द्राविड़, उड़िया आदि नहीं समझ पाते और जिसे बिहार, युक्तप्रांत, राजस्थान, मध्यप्रांत की जनता भी अपनी भाषा नहीं समझती। हाँ, उक्त प्रांतों की मुसलिम-मंडली तथा पंजाब और पश्चिमी युक्तप्रांत के कुछ पढ़े-लिखे हिंदू और सिख उसे अवश्य समझ लेते हैं। तात्पर्य यह कि राष्ट्र की दृष्टि से उसे कोई विशेष महत्त्व नहीं मिल सकता। समूचे देश के विचार से हिंदुस्थानी अर्थात् हिंदी भाषा और नागरी लिपि का ही स्वागत होगा क्योंकि इन्हीं से अन्य प्रांतों की एकता सिद्ध होती है। अच्छा, तो उनका मूल कथन है—

"The Congress is now proposing to create, out of the

common Khari-Boli or Theth basis of Hindusthani, which forms the bedrock on which both Literary High-Hindi and Urdu stand, a New Speech,or New Literary style, with the avowed intention of holding a just and proper balance between the foreign Persian and Arabic words insisted on by the Musalman leaders and the native Hindi and Sanskrit words insisted upon by Hindus cf the Hindusthani area and of the rest of the country. In practice, this amounting to persianised Hindusthani, which Gujratis, Bengalis, Marathas, Oriyas and the people of the South do not understand (and yet they are required to abopt this form of Hindusthani as the 'National Language' of India), and with which the masses in Bihar and U. P. Rajputana and Central India, and the Central Provinces, do not wholly feel at home, accustomed as they are to a Sanskritic vocabulary. Only the Musalman elite of the U. P. Bihar, Hindi-speaking Central Provinces and the Punjab, and a good many educated Hindus and Sikhs of Western U. P. and Punjab, may find this language Convenient.

"It should be understood clearly that the attraction for Hindu Hindustani which peoples of Eastern U. P. Bihar, Nepal, Bengal, Assam, Orrisa, Andhra, Tamil-Nadu, Karnata, Kerala, Maharashtra, Gujarat, and Rajasthana feel depends, primarily on two things—its Devanagari Script, and its Sanskrit Vocabulary." (do. P. 222)

अस्तु, हिंदुस्तानी के बारे में अब तक जो कुछ कहा गया है उसका तात्पर्य यही है कि उसका मूल रूप और उसका मूल अर्थ चाहे जो कुछ रहा हो पर गत डेढ़ सौ वर्षों से उसका व्यवहार प्रायः हल्की उर्दू के अर्थ में ही होता आ रहा है और फलतः आज भी जब कभी

हिंदी अथवा ठेठ हिंदुस्थानी को छोड़कर किसी हिंदुस्तानी की चिंता की जाती है तब वह तुरत अरबी-फारसी की ओर दौड़ जाती है और उसी मुंशी-शैली के रूप में सामने आती है जिसका प्रचलन फोर्ट-विलियम कालेज में डाक्टर गिलक्रिस्ट साहब की कृपा से किया गया था और जिसका प्रचार तभी से सरकार द्वारा हो रहा है। निदान विवश हो हमें यह कहना पड़ता है कि यदि सचमुच हम राष्ट्रभाषा की खोज में हैं तो हमें उसी हिंदी वा नागरी वा हिंदुस्थानी को अपनाना चाहिए जो देवनागरी-लिपि में लिखी जाती और देश की सभी देशभाषाओं की भाँति समय पड़ने पर संस्कृत से सहायता लेती है, कुछ उस हिंदुस्तानी को नहीं जो जन्मी तो हिंदुस्थान में ही पर हिंदुस्थान से उसकी कोई ममता नहीं रही—उसकी देशभाषाओं से उसे प्रेम नहीं, उसकी परंपरागत राष्ट्रभाषा से उसका संबंध नहीं—और जो लिखी तो जाती फारसी-लिपि में है और सदा लपकती रहती है अरबी फारसी की ओर ही। हम उर्दू के विरोधी नहीं, पर कभी उसे राष्ट्रभाषा का पर्याय मानने से रहे। इतिहास पुकार कर कह रहा है कि वह दरबार की शैली है, फारसी की जगह दरबार में फैली और दरबार के साथ ही इधर-उधर बढ़ती रही। दरबार चाहे तो आज भी उसका सत्कार कर सकता है और फारसी की भाँति उसे भी पाठ्यक्रम का अंग बना सकता है; पर एक काव्य-भाषा के रूप में ही, किसी राष्ट्र-भाषा के रूप में कदापि नहीं। भारत की राष्ट्रभाषा तो नागरी थी है और वही रहेगी भी। चार दिन के लिए चाहे जिस किसी को चाँदनी हो, पर सदा की चाँदनी तो उसी की है।

हाँ, दिल्ली के तबलीगी नेता ख्वाजा हसन निजामी ने ठीक ही कहा है कि—

"यह हिंदी जबान ममालिक मुत्तहदा अवध और रुहेलखंड (युक्त-प्रांत) और सूबा बिहार और सूबा सी० पी० और हिंदुओं की अकसर देशी रियासतों में मुरव्वज (प्रचलित) है। गोया बंगाली और बरमी और गुजराती और मरहटी वगैरा हिंदुस्तानी जबानों से ज्यादा रिवाज

हिंदी यानी नागरी ज़बान का है। करोड़ों हिंदू औरत-मर्द अब भी यही जबान पढ़ते हैं और यही जबान लिखते हैं, यहाँ तक कि तकरीबन् एक करोड़ मुसलमान भी जो सूबा यू० पी० और सूबा सी० पी० और सूबा बिहार के देहात में रहते हैं या हिंदुओं की रियासतों में बतौर रिआया के आबाद हैं और उनको हिंदू-रियासतों के ख़ास हुक्म के सबब से हिंदी जबान लाज़मी तौर से हासिल करनी पड़ती है, हिंदी के सिवा और कोई जबान नहीं जानते।" (कुरान मजीद की भूमिका हिंदी अनुवाद, सन् १९२९ ई०)

ख्वाजा हसन निजामी जैसे मजहबी नेता ने स्पष्ट शब्दों में मान लिया है कि उत्तर भारत अथवा ठेठ हिंदुस्थान की बोल-चाल और बात-व्यवहार की भाषा 'हिंदी' वा नागरी ही है। परन्तु इसी को एक दूसरे मुसलिम विद्वान् अल्लामा सैयद सुलैमान नदवी साहब भी इस रूप में कहते हैं—

"हमारे बुजुर्गों ने इस ज़बान को दो क़िस्मों में तकसीम किया था। एक का नाम 'रेख़ता' जो ग़ज़ल की ज़बान थी और दूसरे का नाम 'हिंदी' बताया था जो आम बोलचाल की ज़बान थी। 'हिंदी' का लफ्ज़ छिन गया। अब जो कुछ हम चाहते हैं वह यह है कि आप इसके पुराने नाम 'हिंदी' की जगह इसके दूसरे पुराने नाम 'हिंदुस्तानी' को रवाज दीजिये, ख्वाह अपनी गजलों का नाम रेख़ता की जगह उर्दू ही रखिए। इसमें कोई हर्ज नहीं, मगर अपनी इल्मी, तालीमी वतनी और सियासी तहरीकात में आम तौर से इसको हिंदुस्तानी, के सही नाम से याद करके साबित कीजिए कि यह पूरे मुल्क हिंदुस्तान की ज़बान है और इसका यही नाम इसके पूरे मुल्क की ज़बान होने की दलील है।" (नुकूशे सुलैमानी, दारुल्मुसन्नफीन, आज़मगढ़, पृ० १११)

'इंडिया मुसलिम एजुकेशनल कांफ्रेंस' की अलीगढ़ की इजलास (सन् १९३७ ई०), में अल्लामा सैयद सुलैमान साहब ने जो कान भरा वह यह है—

"लेकिन हम अपने बदगुमान दोस्तों को बावर (सचेत) करना चाहते हैं कि यह लफ्ज 'हिंदुस्तानी' मुसलमानों के इसरार (आग्रह) से और मुसलमानों की तिफ़्लतसल्ली (फुसलावे) के लिए रखा गया है और इससे मुराद हमारी वही ज़बान है जो हमारी आम बोलचाल में है। हमको जो कुछ शिकायत है वह यह है कि हिंदी और हिंदुस्तानी को हममानी और मुरादिफ़ (पर्याय) क्यों ठहराया गया है।" (वही, पृ० १०९)

यदि बात यहीं तक रहती तो कोई बात न थी; पर घोषणा तो यहाँ तक हो चुकी है कि —

"यह समझना भी दुरुस्त नहीं कि इस तजवीज़ को पेश करनेवालों का यह मकसद (उद्देश्य) है कि हम अपनी ज़बान में कोई ऐसी तबदीली कर लें जिससे वह 'हिंदी' या हिंदी के क़रीब बन जाय। हाशा व कल्ला (कदापि) इस क़िस्म की कोई बात नहीं है, बल्कि बेऐनही (वस्तुतः) इसी उर्दू, इसी ज़बान, इसी बोलचाल को जो हम बोलते हैं हम हिंदुस्तानी कहते हैं।" (वही)

अस्तु, मुसलमान चाहें तो उर्दू को 'अपनी ज़बान' के रूप में पढ़ें पर राष्ट्रभाषा तो वह होने से रही। आज भी लगभग एक करोड़ मुसलमान भी तो नागरी ही जानते हैं, फिर उर्दू के लिये इतना आग्रह क्यों? याद रहे हिंदुस्तानी का नकली नाम भी उसके लिए अधिक दिन तक नहीं चल सकता। राष्ट्रभाषा के रूप में तो हिंदी का ही सदा स्वागत होता रहा है और फलतः होना भी चाहिए। यही विद्या है, यही विवेक है। वैसे आपकी इच्छा।

—❀—

७—हिंदी-हिंदुस्तानी का उदय

हिंदी-साहित्य-संमेलन के प्राण और राष्ट्र के कर्मठ नेता श्रद्धेय श्री पुरुषोत्तमदास टंडनजी ने कुछ दिन हुए 'हिंदी' और 'हिंदुस्तानी'

के संबंध में "हिंदी साहित्य संमेलन की नीति" नाम का जो वक्तव्य निकाला है उससे इस विनीत का भी कुछ संबंध है, अतएव इस विषय में उसका मौन रह जाना कुछ अनर्थ का ही कारण समझा जायगा, 'आज्ञागुरुणामविचारणीया' का परिचायक नहीं। निदान विवश हो, संक्षेप में, उत्तर, समाधान अथवा प्रतिवाद न कर थोड़े में उस स्थिति को स्पष्ट कर देना है जिसके कारण हिंदी-साहित्य-संमेलन का नाता हिंदुस्तानी से जुड़ गया है और विनीत लेखक ने लिख दिया है—

"हिंदी साहित्य संमेलन की नागपुर की बैठक में एक अद्भुत बात यह निकल आई की हमारी राष्ट्रभाषा का नाम हिंदी या हिंदुस्तानी न रह कर 'हिंदी हिंदुस्तानी' हो गया और इसने धीरे धीरे फिर हिंदी उर्दू प्रश्न को उभार दिया। 'हिंदी-हिंदुस्तानी' का नामकरण यद्यपि नवीन न था तथापि उसके प्रोयग मे आ जाने से संप्रदाय विशेष में बड़ी खलबली मची और इस बात को भरपूर चेष्टा की गई कि 'हिंदी-हिंदुस्तानी' का रहस्य खोल दिया जाय। सच पूछिए तो 'हिंदी हिंदुस्तानी' कोई भेदभरी बात नही है बल्कि उलझन से बचने का एक सहज उपाय है। इस उपाय को अमोघ अस्त्र समझना भारी भूल है।"

(भाषा का प्रश्न, ना० प्र० सभा, काशी, पृ० ६३)

इसमें तो संदेह नहीं कि प्रकृत पंक्तियों मे कहीं 'संमेलन' की भर्त्सना नहीं है। हाँ, उसकी किसी 'बैठक' का उल्लेख अवश्य है। श्रद्धेय टंडनजी का यह कहना अक्षरश सत्य है कि 'संमेलन' के किसी 'अधिवेशन' ने 'हिंदी हिंदुस्तानी' को राष्ट्रभाषा का पर्याय घोषित नहीं किया किंतु उनका यह बताना कि 'संमेलन' का उससे कोई नाता नहीं, ठीक नहीं। यदि विश्वास न हो तो उसी 'हिंदी-साहित्य-संमेलन के मद्रासवाले अधिवेशन मे आ जाइए। आपके सामने खुले अधिवेशन में पास होता है कि—

"यह संमेलन गवर्नमेंट आफ इंडिया कानून की भापा संबंधी नीति का विरोध करता है। संमेलन इस बातपर जोर देता है कि

केंद्रीय व्यवस्थापक सभा का कार्य हिंदी हिंदुस्तानी में तथा प्रांतीय व्यवस्थापक सभाओं का कार्य प्रांतीय भाषाओं में हुआ करे।"

हिंदी-साहित्य-संमेलन के मद्रास के इस छठे प्रस्ताव की 'हिंदी हिंदुस्तानी' को अच्छी तरह समझने के लिए यह आवश्यक है कि उसके आठवें प्रस्ताव को भी सामने रख लें और फिर प्रत्यक्ष देख लें कि 'हिंदी-साहित्य-संमेलन' किस प्रकार और कहाँ तक स्वयं 'हिंदी-हिंदुस्तानी' को अपना रहा है और साथ ही 'केंद्रीय व्यवस्थापक सभा एवं 'अखिल भारतीय समिति और कार्यसमिति' को भी इसके लिए निमंत्रण देता है। 'व्यवस्थापक सभा' का प्रस्ताव पहले आ चुका है। अब कांग्रेस संबंधी प्रस्ताव को लीजिए—

"यह संमेलन कांग्रेस की कार्यसमिति से अनुरोध करता है कि वह ऐसा निश्चय करे कि भविष्य में कांग्रेस की और उसकी अखिल भारतीय समिति और कार्य समिति की कार्रवाई में अंग्रेजी भाषा का उपयोग नहीं किया जायगा और उसके बदले में हिंदी यानी हिंदुस्तानी भाषा का उपयोग किया जायगा और उस के बदले में हिंदुस्तानी ही इस्तेमाल की जायगी। लेकिन जो मेंबर हिंदी यानी हिंदुस्तानी में अपना मतलब पूरी तरह से नहीं समझा सकेगा वह अंग्रेजी भाषा का उपयोग कर सकेगा।"

"यह कहना जरूरी नहीं है कि जो मेंबर हिंदी हिंदुस्तानी न जानने के कारण अपनी प्रांतीय भाषा में बोलना चाहे उसे कोई प्रतिबंध नहीं है। और संमेलन की राय है कि ऐसी हालत में आवश्यकता होने पर अनुवादक रखे जायं। यदि किसी को अंग्रेजी में समझाने की आवश्यकता पैदा हो तो प्रमुख की संमति से कोई भी सदस्य अंग्रेजी का उपयोग कर सकेगा"।

अस्तु, कहने की आवश्यकता नहीं कि हमारा हिंदी अभिमानी हिंदी-साहित्य-संमेलन 'संस्कृताभासी' हिंदी के पक्षपाती मद्रास प्रांत में पहुँच कर अपने खुले अधिवेशन में 'हिंदी' की उपेक्षा कर उसी 'हिंदी-हिंदुस्तानी' को अपनाता है जिसके निराकरण के लिए आज उस

के प्राण श्रद्धेय टंडन जी तत्पर हैं। और अपनाता ही क्यों? वह तो कांग्रेस से लेकर 'केंद्रीय व्यवस्थापक सभा' तक उसका प्रसार चाहता है। फिर आज हिंदी-साहित्य-संमेलन को 'हिंदी हिंदुस्तानी' से परहेज क्यो? हमें तो आश्चर्य यह देखकर होता है कि हिंदी के लिए प्राण निछावर करने वाले हमारे टंडन जी भी उस अधिवेशन में इसी 'हिंदी-हिंदुस्तानी का प्रयोग कर जाते हैं। कहते हैं—

"हमारी हिंदी हिंदुस्तानी में सांप्रदायिकता नहीं मुसलमानों ने हिंदी साहित्य में बहुत काम किया है।" (श्रीटंडन जी का अभिभाषण, पृ०३)

सच पूछिए तो अब कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं रही, हिंदी-साहित्य-संमेलन का सच्चा रूप इतने ही से अच्छी तरह सामने आ गया, पर हमे भूत की चर्चा से भविष्य में लाभ उठाना है। हिंदी-साहित्य-समेलन की आज की नीति से हिदी को और भी आगे बढ़ाना है। अतएव यहां इस संमेलनी 'हिदी-हिंदुस्तानी' के इतिहास पर भी विचार कर लेना चाहिए।

अच्छा, तो इस संमेलनी हिंदी-हिंदुस्तानी का मूल स्रोत कहां है? संभवतः आप भी श्री टंडनजी के साथ यही कहेंगे कि भारतीय साहित्य-परिषद् के प्रथम अधिवेशन में। हां, ठीक है। इस मे संदेह नहीं कि हिदी साहित्य संमेलन ने नागपुर के अपने निजी अधिवेशन मे कोई भी हिदी हिंदुस्तानी नाम का खुला प्रस्ताव पास नहीं किया। उस के किसी प्रस्ताव मे हिंदी हिंदुस्तानी का व्यवहार हुआ अथवा नहीं, यह हम कुछ भी नहीं कह सकते। कारण, हमारे पास प्रस्तावो की सूची अथवा उक्त अधिवेशन का कोई विवरण नहीं है। 'वहुत प्रयत्न करने पर भी वह काशी में (नागरी प्रचारिणी सभा के पुस्तकालत में भी) नहीं मिल सका। पर इतना अवश्य है कि उक्त अधिवेशन का लगाव कुछ न कुछ उक्त परिषद् से भी अवश्य था। क्या लगाव था, यह अभी खुल जाता है। भारतीय साहित्यपरिषद् के मुखपत्र हंस की वाणी पर ध्यान दीजिये। उसमें से कितनी ठोस ध्वनि निकलती है—

"भारतीय सा०परिषद् के कार्य को चलाने के लिये हिं०सा०संमेलन

ने एक समिति चुनी है। इस के सभापति महात्माजी हैं, लेकिन उप सभापति राजेन्द्र प्रसादजी ही उसका सारा काम करेंगे। यदि महज जरूरत हुई, तो महात्माजी को किसी खास बात को हल करने के लिये तकलीफ़ दी जायगी, इस तरह का निश्चय हुआ। इस परिषद् के मंत्री कन्हैयालाल मुंशी और काका साहब कालेलकर चुने गए। परिषद् का कार्यालय वर्धा में रखना तय हुआ।"

(हंस, मई सन् १९३६ ई०, पृ० ९१५)

प्रसंगवश यहां इतना और जान लीजिए कि महात्मा गांधी जी इन्दौर के अधिवेशन के सभापति थे और राजेन्द्रप्रसादजी इस नागपुर अधिवेशन के। साथ ही यह भी ध्यान रहे कि इसी हिंदी-साहित्य-संमेलन ने जिसके पास आज भारतीय साहित्य परिषद् का कोई लेखा नहीं, उसी नागपुर के खुले अधिवेशन में प्रस्ताव किया था—

"अपने पिछले (इंदौर के) अधिवेशन में संमेलन ने जो समिति देश की भाषाओं के साहित्यिकों के साथ संबंध स्थापित करने के लिए बनाई थी, उसके संयोजक कन्हैयालाल मुंशी की रिपोर्ट को सुनकर यह संमेलन समिति के कार्य पर बधाई देता है और उस के उद्योग द्वारा स्थापित 'हंस' मासिक के नवीन क्रम तथा भारतीय साहित्य परिषद् की स्थापना का स्वागत करता है। यह सम्मेलन भारतीय साहित्य परिषद् के मंतव्यानुसार इन नीचे लिखे हुए सात व्यक्तियों को परिषद् की बनाई हुई, संस्थापिता समिति के लिए नामजद करता है—

१ पुरुषोत्तमदासजी टंडन, २ प्रेमचंद्रजी, ३ पं० रामनरेशजी त्रिपाठी, ४ देव शर्मा 'अभय' ५ ब्रिजलालजी बियानी, ६ पंडित माखनलालजी चतुर्वेदी और ७ पं० जयचंद्रजी विद्यालंकार।

साथ ही उपर्युक्त व्यक्तियों के अतिरिक्त बाबू राजेंद्रप्रसादजी, कन्हैयालाल मुंशी, काका कालेलकर और हरिहर शर्मा की एक समिति नियुक्त करता है, जिसका कर्तव्य होगा कि भारतीय साहित्य-परिषद् के कार्य के संबंध में संमेलन की ओर से ध्यान और सहयोग देता रहे, और समय समय पर स्थायी समिति को परिषद् के संबंध में सूचना

देता रहे, तथा संमेलन के अगले अधिवेशन के पहले उस विषय में रिपोर्ट उपस्थित करे। इस समिति के संयोजक काका कालेलकर होंगे।"

उस समिति के संयोजक काका कालेलकर ने क्या किया, यह तो एक प्रकार से प्रकृत प्रसंग के बाहर की बात हुई। ध्यान देने की बात यहां यह है कि हिंदी-साहित्य-संमेलन भारतीय-साहित्य-परिषद् पर अपनी देखरेख रखना चाहता है। किसी प्रकार उस से तटस्थ रहना नहीं चाहता। यही क्यों? इसी का तो यह परिणाम है कि संमेलन के अगले अधिवेशन (मद्रास) में हिंदी की जगह प्रस्तावों में हिंदी-हिंदुस्तानी का व्यहार होता है और उसे राष्ट्रभाषा का पर्याय समझा जाता है। फिर यह कहना कि भारतीय-साहित्य-परिषद् का संमेलन से कोई संबंध नहीं कहाँ तक न्यायसगत है, इसका विचार पाठक स्वयं कर सकते हैं। हमें यहा तो केवल इतना और निवेदन कर देना है कि इस भारतीय-साहित्य-परिषद के सभापति महात्मा गांधी का भी कहना यही है—

'खत भेजने वाले सज्जन पूछ सकते हैं कि हिंदी या हिंदुस्तानी का हठ छोड़कर सीधा सादा हिंदुस्तानी शब्द क्यों नहीं काम में लाया जाता? मेरे पास इस के लिये सीधीसादी एक ही दलील है। वह यह है कि मेरे सरीखे नये व्यक्ति के लिये २५ बरस की पुरानी संस्था को अपना नाम बदलने के लिए कहना गुस्ताखी होगी, फिर तब जब कि उस का नाम बदलने की ऐसी कोई जरूरत भी साबित नहीं की गई है। नई परिषद् पुरानी संस्था की ही उपज है।"

(हंस, जुलाई सन् १९३६ ई०, पृ० ९८)

एक बात और। यदि विचार से देखा जाय तो यह भी स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय साहित्य परिषद् के सभापति महात्मा गांधी, उस समय तक हिंदी-साहित्य-संमेलन के भी सभापति थे। उनकी जगह देशरत्न राजेन्द्रबाबू को नहीं मिली और दूसरे दिन काम चलाने के लिए राष्ट्रपति जवाहर लाल परिषद् के सभापति बने। इसका प्रधान कारण चाहे जो रहा हो। पर इतना तो निर्विवाद है कि फिर परिषद्

के उपसभापति वही साहित्य-संमेलन के सभापति राजेन्द्रबाबू हो जाते हैं और पं० जवाहरलाल नेहरू सदस्य मात्र हो जाते हैं। निदान, हमें विवश हो मानना पड़ता है कि भारतीय-साहित्य-परिषद् का हिंदी-साहित्य-संमेलन से गहरा लगाव था। उसको संमेलन से बिल्कुल अलग दिखा देना असंभव है। ठीक वैसा हो तो नहीं, पर बहुत कुछ उसी ढंग का लगाव संमेलन और परिषद् में रहा जैसा आज संमेलन और उसी की राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति का है। एक ओर आप संमेलन की प्रचारसमिति को रखिये और दूसरी ओर राष्ट्र-भाषा प्रचार-समिति को तो आपको प्रत्यक्ष दिखाई देगा कि यही संबंध साहित्यपरिषद् और भारतीय-साहित्य-परिषद् में भी बहुत कुछ काम कर रहा था। अस्तु, महात्मा गांधी का यह कहना है कि भारतीय-साहित्यपरिषद् के लिए हिंदी शब्द का बहिष्कार करना इस लिये अनुचित है कि वह वस्तुतः उसी का बच्चा है, अक्षरशः ठीक है।

भारतीय-साहित्य-परिषद् में हिंदी-हिंदुस्तानी का प्रस्ताव तो पास हुआ किंतु हिंदी-हिंदुस्तानी की खान कहीं और ही है। हम देखते हैं कि परिषद् के स्वागताध्यक्ष काका कालेलकरजी अपने अभिभाषण में बारबार इसी हिंदी -हिंदुस्तानी का प्रयोग करते हैं। उनका कहना है—

"जिन्होंने इस प्रवृत्ति का आरंभ किया है, वह इस निश्चय पर आ गए हैं कि राष्ट्रभाषा हिंदी-हिंदुस्तानी में ही हमारा सारा व्यवहार चलेगा।" और

"जब हिंदी-हिंदुस्तानी में हमारा अंतर्प्रांतीय व्यवहार चलेगा तब हमें सब प्रांतों के लिए सुलभ राष्ट्रभाषा का सर्वसाधारण स्वरूप भी गढ़ना होगा।"

अंतमें आप का अनुरोध है कि

"अगर इस संगठन को सफल बनाना है, तो आप कृपया अपनी हिंदी या हिंदुस्तानी हमारे लिए जिस तरह हो आसान कीजिये। हम संस्कृतका पक्ष नहीं लेते बल्कि हिंदी-हिंदुस्तानी की विफलता टालना चाहते हैं। (हंस, मई सन् १९३६ ई० पृ० ६६, ७)

स्वागताध्यक्ष ही नहीं परिषद्के सभापति महात्मा गांधीजी भी इसी हिंदी-हिंदुस्तानी की गोहार लगाते हैं। आप कहते हैं—

"मुंशीजी और काका साहब ने हमारा मार्ग एक हद तक साफ कर रखा है। व्यापक साहित्य का प्रचार व्यापक भाषा में ही हो सकता है। ऐसी भाषा अन्य भाषा की अपेक्षा हिंदी-हिंदुस्तानी ही है। हिंदी को हिंदुस्तानी कहने का मतलब यह है कि उस भाषा में फारसी मुहावरे के शब्दों का त्याग न किया जावे।"

(महात्मा गांधी का अभिभाषण, वही, पृ० ७२)

प्रश्न उठता है कि यह हिंदुस्तानी कहांसे आ गई कि परिषद् के स्वागताध्यक्ष और सभापति दोनों ही इसी पर लट्टू हो रहे हैं, तो इसके संबंध मे उर्दू के विधाता मौलवी अब्दुल हक का कहना है कि

"२९ मार्च को संमेलन के (मद्रास के) दूसरे दिन के इजलास में महात्मा गांधी ने इस की तशरीह की कि वह हिंदी या हिंदुस्तानी या उर्दू के वजाय हिंदी-हिंदुस्तानी का लफ्ज़ क्यो इस्तेमाल करते हैं। उन्होने कहा कि यह सवाल सब से पहले १९१८ई० में उठाया गया था और इंदौर की सदारत के वक्त उन्हों ने मिस्टर पुरुषोत्तमदास टंडन से जो दरअस्ल समेलन के बानी-मुबानी हैं, इसको तशरीह भी कर दी थी। (उर्दू, अप्रैल सन् १९३७ ई० पृ० ४२९)

अस्तु, हिंदी-साहित्य-संमेलन के इंदौर के अधिवेशन मे जो हिंदी-हिंदुस्तानी की बात हुई उसी का यह नतीजा है कि नागपुर में उसकी धूम मची है और मद्रास मे तो उसी का बोल बाला हो गया है, और हिंदी साहित्य-संमेलन के प्रस्तावों मे भी ठाट से उसका प्रयोग हो रहा है।

हां, तो इंदौर मे भी महात्मा गांधी की व्याख्या कम कर गई। वहाँ राष्ट्रभाषाकी जो परिभाषा की गई वह वस्तुतः हिंदुस्तानी कही जाने वाली चीज की परिभाषा थी, कुछ राष्ट्रभाषा अथवा सरल बात व्यवहार की बोल चाल की चलित हिंदी की नहीं। क्यों कि उस मे साफ कहा गया कि जो नागरी या उर्दू लिपि मे लिखी जाती हो। (संमेलन की शिमला मे स्वीकृत नियमावली, पृ० २)

हिंदी-साहित्य-संमेलन की नियमावली किस प्रकार हिंदी-हिंदुस्तानी का पोषण कर रही है, इस की चर्चा हम फिर करेंगे। यहां केवल इतना और जान लीजिए कि संमेलन की इस राष्ट्रभाषा की परिभाषा से महात्मा गांधी का गहरा लगाव है। महात्मा गांधी की हिंदी-हिंदुस्तानी की व्याख्या यह है —

"जिस भाषा को आम तौर पर उत्तर भारत के हिंदू और मुसलमान बोलते है वह भाषा हिंदी या हिंदुस्तानी है, चाहे वह देवनागरी अक्षरों में लिखी जाय, चाहे उर्दू खत में।"

(हंस, जुलाई सन् १९३९ ई० पृ० १०३)

साहस तो नहीं होता, पर कहना यही है कि संमेलन की परिभाषा महात्मा गांधी की व्याख्यासे भी कहीं आगे बढ़ गई है। महात्मा गांधी ने 'चाहे' शब्द का प्रयोग कर लिपि को गौण ठहरा दिया है तो संमेलन ने 'लिखी जाती हो' का विधान कर भाषा को लिपियों में जकड़ दिया है। 'नागरी लिपि' और 'उर्दू खत' की योग्यता को तुल्य बनाकर संमेलन ने 'टका सेर मूली टका सेर खाजा' को चरितार्थ कर दिया है। पता नहीं, कैथी, वा रोमो लिपि में लिखी हिंदी या हिंदुस्तानी राष्ट्रभाषा हो सकती है अथवा नहीं। संमेलन और महात्मा गांधी की परिभाषा तो इसके प्रतिकूल है।

जो हो इतना तो निर्विवाद है कि हिंदी-साहित्य-संमेलन ने परोक्ष और प्रत्यक्ष दोनों ही रूपों में हिंदी-हिंदुस्तानी को महत्त्व दिया है और अंत में मद्रास में जाकर उसे अपना भी लिया है। निदान, श्रद्धेय टंडनजी का नियमावली को दुहाई दे स्थिति को उलझा देना ठीक नहीं। जान पड़ता है कि समेलन के कागदपत्रों की जांच ठीक से नहीं हुई और सच्ची सामग्री श्री टंडनजी के सामने न आ सकी। नहीं तो इस प्रकार की धांधली न मचती। संक्षेप में, हमें निवेदन यह कर देना है कि हम ने किसी प्रमाद या भ्रम में आकर हिंदी-साहित्य-संमेलन का उल्लेख नहीं किया है बल्कि सोच समझकर खूब छानबीन कर ही हिंदी-साहित्य-संमेलन को नागपुर की बैठक का निर्देश किया

है और दावे के साथ स्थिति को स्पष्ट करने के लिए ही "एक अद्भुत बात निकल आई और राष्ट्रभाषाका "नाम हिंदी हिंदुस्तानी हो गया"। का प्रयोग किया है। 'हाँ' अधिवेशन की जगह 'बैठक' का प्रयोग जान बूझ कर किया गया है। 'निकल आई' और 'हो गया मे यह भाव भरा गया है कि यह घटना परस्थिति के कारण घटी है कुछ संमेलन की कर्मशीलता और प्रस्ताव के द्वारा नहीं। आशा है, संमेलन अब जिस बात को अनुचित समझता है उस से मुक्त हो जाने का प्रयत्न अगले (पूना में होने वाले) अधिवेशन में करेगा और खुले अधिवेशन में खुलकर हिंदी का प्रतिपादन करेगा, किसी हिंदी-हिदुस्तानी का समर्थन कदापि नहीं। (हिन्दुस्तानी की चौथी पोथी)

युक्तप्रांत की विसखोपड़ी रीडरों से यदि होनहार बच्चोंको बचाने का प्रयत्न न किया गया तो 'स्वराज्य का स्वप्न देखना तो दूर रहा' कहीं 'स्व' भी देखने को नसीब न होगा। उधर उर्दू के समझदार आचार्य तो इस चिंता में लगे हैं कि उर्दू को स्वदेशी बनाने के लिए बाध्य करें और इधर 'हिंदुस्तानी' के विधाता इस फेर में पड़े हैं कि हिंदी को अहिंदी कर उसे उर्दू से कुछ और भी आगे बढ़ा दें जिस से उर्दू परस्त परदेशी अपने आपको स्वदेशी समझ लें। परिणाम यह हुआ है कि युक्तप्रांत की रीडरों मे हिंदी छंदों का बायकाट' कर दिया गया है और यह सिद्ध कर दिया गया है कि उर्दू भाषा ही नहीं उर्दू शाइरी भी घर घर छा गई है। मुई हिंदी तो अब काशी के पंडितो अथवा सम्पूर्णानंदी‡ लोगों के मुँह क्या पोथों में रह गई है जो केवल चिढ़ाने के लिए बाहर निकाली जाती है। नहीं तो आम जनता की भाषा तो भूल गया, जबान तो उर्दू है—वह उर्दू जिम में हिंदी छंद का नाम

---

‡ बाबू सम्पूर्णानन्दजी हिंदी मे प्रचलित विदेशी शब्दों का बहिष्कार नही चाहते पर साथ ही प्रचलित संस्कृत शब्दो का प्रयोग भी उचित समझते हैं। यह दूसरी बात उर्दू-भक्तों को सह्य नहीं है इसलिए जो हिंदी शत-प्रतिशत विदेशी शब्दों से युक्त नहीं है; उसे वे कभी कभी 'सम्पूर्णानन्दी' हिंदी के नाम से पुकारते हैं।

नहीं। परंतु हिंदी को प्रसन्न करने और अपने को सच्ची हिंदुस्तानी सिद्ध करने के लिए कुछ हिंदी भी तो जरूरी है? लीजिए वह आपके सामने है। आप ही न्याय की नजर से देख कर इंसाफ करें कि 'हिंदुस्तानी की चौथी पोथी' में अहिंदियत कहाँ है? किताब की जगह 'पोथी' तक लिख दिया, फिर भी आप उसे पूजा की दृष्टि से नहीं देखते!

ठीक है। पर जरा हमें कुछ दूर तक देखने की आदत पड़ गई है और स्वभावतः हम भीतरी बातों पर विशेष ध्यान देते हैं। राग को रंग से अधिक महत्त्व देते हैं।

याद रहे हिंदुस्तानी के पुजारी हिंदुस्तानी पर किसी दूसरी भाषा का अनुशासन नहीं चाहते और उन्हीं विदेशी शब्दों को अपनाते हैं जिन्हें जनता ने अपना लिया हो। अब तनिक ध्यान से देखिये तो सही कि 'जरासीम' किस भाषा का शब्द है और किस प्रकार बच्चों की बोली में आ गया है। देखिए 'बीमारी के जरासीम आदमियों में पहुंच जाते हैं— पृ० ३६,' और आप के बच्चे चट 'जरासीम' का अर्थ समझ जाते हैं। पर यह 'जरासीम' है क्या बला? उत्तर के लिए व्यग्र न हों। देखें —

"बीमारी के हजारों कीड़े जिनको जरासीम कहते हैं मक्खी की टाँगों से चिपट जाते हैं।" (पृ० १२९)

अंगरेजी आप की राजभाषा है। 'जरासीम' 'जर्म्स' का अरबी रूप है। अरबों को इस बीमारी का पता नहीं, पर 'जरासीम' उनको इसका मालिक बना देता है। पर क्या स्वयं अरब इसका अर्थ जानते हैं? नहीं। यह तो हिंदुस्तानी बच्चों के लिए हिंदुस्तानी ईजाद है। हिंदुस्तान की जबान अरबी नहीं तो और क्या हो सकती है? हिंदमहासागर से अरब का लगाव है, न कि इंगलैंड का। यही कारण है कि अंगरेजी की जगह हिंदुस्तानी अरबीके लिए जोर लगाया जा रहा है। 'हिंदुस्तानी अरबी' इसलिए कि अरब लोग इस अरबी को नहीं समझते।

हिंदुस्तान एक खेतिहर देश कहा जाता है। इसलिए किसानों के बच्चों का बताया गया है—

"सींचाई के लिहाज से जमीनें तीन प्रकार की होती हैं। चाही, बारानी, नहरी। चाही जमीन तो वह है जिसको कुओं के पानी से सींचा जाता है। बारानी वह है जिसमें खेती बारिश के पानी से होती है। नहरी जमीन उसे कहते हैं जिसमें नहरों से आबपाशी होती है।"
(पृ० ३१)

नहरके पाठ में 'चाही' और 'बारानी' की जरूरत क्यों पड़ी, इस के कहने की आवश्यकता नहीं। आवश्यकता तो यह जान लेने की है कि अब आप के बच्चों को वर्षा या बारिश से सन्तोष न होगा। उन्हें विवश हो इस 'बारानी' का जाप करना पड़ेगा। इसी तरह कुएं की जगह 'चाह' का प्रचार किया जायगा और आप चाहें या न चाहें पर आप के लाड़ले लड़कों को 'चाही' सीखना पड़ेगा। खैर, यहाँ तक तो कोई बात नहीं। आप के लड़के सहज मे ही मौलवी साहब बन सकते हैं। पर कृपया यह तो कहें कि आपके देश में ताल-पोखरों से भी कुछ सींचने-साँचने का काम होता है अथवा नहीं? यदि हाँ, तो यह 'चाही' और यह 'बारानी' उसके किस काम के हैं। हमारी दृष्टि में तो इस 'चाही' और इस'बारानी' ने स्पष्ट सिद्ध कर दिया है कि हमारे परदेशी अथवा उनके अंधभक्त देशी विधाताओं की दृष्टि किधर है और कहाँसे उन्हें जीवन की शुभ्र प्रेरणा मिल रही है।

हां, तो हिंदुस्तानी की चौथी पोथी के लेखको का दावा है कि 'यह रीडरें कैरिकुलम टेक्स्टबुक कमेटी युक्तप्रांत के अनुसार तय्यार की गयी हैं। तमाम विषयो पर जो कैरिकुलम में अवस्थित हैं बड़ी सुंदरता से प्रकाश डाला गया है। भाषा का ऐसा प्रयोग किया गया जो न केवल युक्तप्रांत बल्कि तमाम भारतवर्ष के शिक्षित घरानों में बोली और समझी जाती है। जिसको वास्तव में भारतीय भाषण कहा जा सकता है।" (वही भूमिका)

'कैरिकुलम टेक्स्टबुक कमेटी' तो कुछ रही हो होगी। उसके घरों

का हाल हम क्या जानें। किंतु 'भारतवर्ष' और भारतीय भाषा की पहचान कुछ हमें भी है। इसलिए हम युक्तप्रांत की सरकार से यह जान लेने की धृष्टता करते हैं कि किन भारतीय शिक्षित घरोंमें 'धृतराष्ट्र' को 'धृतराष्टर' 'द्रुपद' को 'द्रपद' 'युधिष्ठिर' को 'युधिष्ठर' और 'बाप' को 'अब्बा' कहते हैं। क्या किसी भी सच्चे भारतीय शिक्षित हृदय से ऐसे अपभ्रष्ट शब्दों का प्रयुक्त होना संभव है? हैरान होने की बात नहीं, कुछ समझ से काम लेने का समय है। सुनिये तो किसी गाँव का मुखिया अपने गाँव के चमार को किस प्रकार याद करता है—

'मियाँ पलटू! बस खैर इसी में है कि नुकसान भर दो वरना फिर तुम मुझे जानते ही हो' (वही पृ० ९०)
फिर वही मुखिया साहब अपने साथियों से फरमाते हैं—'मियाँ हमारे गाँव के चमारों में यह सबसे ज्यादा सियाना है।' (पृ० ९१)

'अब्बा.' मियाँ' और 'धृतराष्टर' से शिष्ट घरों का पता चल गया। यदि फिर भी कुछ संदेह शेष रह गया हो तो उस पोथी में प्रयुक्त 'जनना', 'जामन' 'खम्बा' 'भूक' आदि रूपों को देखिये और अच्छी तरह जान लीजिये कि अब आपके बच्चे आपकी भाषा नहीं समझ सकते। अब तो आप की उदार और सच्ची सरकार उन्हें उन परदेशियों की जबान सिखाने पर उतारू है जो विवशता के कारण यहाँ पर बस गये हैं पर गुलामी करते हैं किसी कल्पित अरब और फारस की और इसी से बोलते हैं 'राष्ट्र' को 'राष्टर'! और इसी का तो यह नतीजा है कि बच्चों की इस चौथी पोथी में 'कपूर' को 'काफूर' और अफीम को 'अफ्यून' कर दिया गया है? मानों स्वयं इनका इस देश से कोई नाता नहीं। पर दुनिया जानती है कि 'काफूर' किस 'कर्पूर' का अरबी रूप है और 'अफ्यून' भी 'अहिफेन' का। 'अस्पताल' भी 'शफाखाना हो गया है। अस्पताल को समझता कौन है?

किंतु पाठक कहीं यह न समझ लें कि इस पोथी की जबान सचमुच उर्दू है। नहीं। उर्दू किसी ऐसी पोथी में उतर ही नहीं सकती। इस लिए इस पोथी की जबान उर्दू नहीं, उर्दू की बाँदी है जिसे इसके समझ-

दार लेखकों ने हिंदुस्तानी' के प्रिय नाम से याद किया है और जगह जगह पर अपनी हिंदुस्तानी घिस-घिस का पता भी दे दिया है। और इस 'पोथी' में न तो लिंग-भेद का झगड़ा है और न किसी व्याकरण या शुद्ध रूप की पाबंदी। कहीं 'तरफ' को हम स्त्री के रूप में पाते हैं तो कहीं पुरुष के रूप में। उसके लिंग का पता नहीं। कहीं आप को 'फटकरी' और 'दरिया' दिखाई देंगे तो कहीं 'फिटकरी' और 'दरया'। एक ही शब्द 'बलगम' कहीं मलगम' दिखाई देता है तो कहीं और भी बढ़कर बढ़िया 'गल्गम'। 'दिक' का यह गलगमी पाठ कितना हिंदुस्तानी है, इसे आप ही समझें।

कुछ और निवेदन करने के पहले इस पोथी के कतिपय मंत्र वाक्यों को सामने रख दें। संभव है, आपकी समझ मे उन के असली रूप आ जॉय। सबसे पहले 'हाथ लगाओ कहर खुदा का बूझ फैला* मेरा' (पृ० ५५) को लीजिये।

इस 'फैला' को सामने रखकर 'शहर' को समझ तो लीजिए—

'शहर की मक्खियॉ और भौरे इन फूलों पर आकर इकट्ठे हो जाते हैं'। (पृ० ९३)

और अब यदि—काफी रकम न मिले तो फिर आप स्वयं बिक सकते हैं। (पृ० १०१)

उधर—'कौरवों ने द्रोपदी को जीत कर पांडवों को सताने के लिए द्रोपदी की साड़ी उतारनी चाही। इसपर झगड़ा होने लगा। भीष्म ने बीच बचाव किया।' (पृ० १३६)

देखा आपने? किस खूबीसे 'कृष्ण' का नाम उड़ा दिया गया और एक नया भारत खड़ा कर दिया गया। भाई! सच बात तो यह है कि भीष्म पितामह भी भरी सभामें उसी अन्नदोषके कारण यह अनर्थ चुपचाप देखते रह गये थे जिस अन्नदोषके कारण हमारी देशी सरकारके सचिव तथा अन्य महानुभाव इस भाषाकी चीरहरण-लीला को मौन हो देखते रहे हैं। नहीं तो 'द्रौपदी' को 'द्रोपदी' क्यों लिखा जाता और 'भीष्म' 'बीच बचाव' क्यों करते? अरे! क्या सचमुच

कौरवोंका शासन आ गया है जिसमें सबके सब वही दुःशासन हो रहे हैं?

अच्छा यही सही। पर कृपया यह तो बतानेका कष्ट करें कि आखिर राजा राममोहन रायने क्या अपराध किया है कि उनको १८२० ई० में ही दफना दिया जाता है। कुछ दिन और जीते तो देहली दरबारका काम ही कर जाते। हम तो यही जानते थे कि राजा राममोहन राय सन् १८३३ ई० में मरे थे और मरे थे इंगलैंड में मुगल सरकार के काम से।

बाबा तुलसीकी भी कुछ यही दशा है। बेचारे 'कथा प्रबंध विचित्र बनाई' कहकर मर गये. पर हमारे हिन्दुस्तानी दोस्तोंका काम इससे न चला। उन्हें खुलकर लिखना ही पड़ा कि 'उन्होंने हिन्दी तर्जुमेमें असल रामायणको चार चाँद लगा दिये।' (पृ० ११)

'चार चाँद' आपके लिए चाहे जो कुछ हो, पर हमारे लिए तो वह 'चार लात लगा दिए' के तुल्य ही है। ऐसी ही मुहाविरों की दुर्गति इस पोथीमें जगह जगह की गई है। उर्दू तो उन्हें सह नहीं सकती। कोदो दलनेके लिये इसी हिदुस्तानीकी छाती काफी चौड़ी है। पर बात यहीं नहीं रह जाती। 'संवत् सोलह सौ इकतीसा' भी इस 'हिन्दुस्तानी पोथी' में सन् १५५४ ई० हो जाता है। जाने कहाँका गणितशास्त्र युक्तप्रान्तमें टपक पड़ा है। हम लोग तो यही जानते थे कि सामान्यतः वि० सं० मे से ५७ घटा देनेसे ईसवी सन्की प्राप्ति हो जाती है पर अब देखते यह हैं कि ७७ (१६२१–१५५४) घटानेकी नौबत आ गयी।

प्रसंग बढ़ानेसे कोई लाभ नहीं, पर पद्यकी चर्चा है आवश्यक। पद्यके क्षेत्रमें हिन्दी उर्दूका कोई मेल नहीं। उर्दू यहाँ सोलहो आना अहिंदी बन चुकी है, और उर्दूके विद्वानोंने दावेके साथ कहना भी शुरू कर दिया है कि हिन्दीमें छन्दही कहाँ हैं। हिन्दी बच्चोंकी पोथीमें हिन्दी छन्दोंका अभाव किस भावका द्योतक है यह हम नहीं कह सकते, पर इतना जानते अवश्य हैं कि हमारी इस हिंदुस्तानीकी पोथीमें शेर मात्रको 'दोहा' लिखा गया है और पद्यका प्रयोग स्त्रीलिंगमें किया गया है। इसके पद्य हैं भी बड़े ढबके। तनिक गुनगुनाइये तो सही। कितना सरस राग है—

'ऐ भोले भाले बच्चों नादानों नातवानों।
सरपर बड़ोंका साया साया ईश्वरका जानो॥' (पृ० १६६)

'साया ईश्वर का जानो' गद्य है वा पद्य?

चाहे जो हो, किसी प्रकार इसका अर्थ तो आपकी समझ में आगया। अब एक दूसरा पद्य लीजिये और अपने ज्ञानकी परीक्षा तो कर लीजिये। कितना सटीक कहना है—

'फागनका है महीना गर्मीका दौर आया।
महका हुआ है जंगल बागोंमें मोर आया॥
× × ×
यह शाखें करवटें यहां जूं जूँ बदल रही है।
बस कैरियों ही साँचे, साँचेमे ढल रही है॥
× × ×
यह कैरियाँ नहीं हैं, बच्चे हैं दूध पीते
जो दूधके सहारे, इस झूलेमें हैं जीते
जड़ने जमीनको छाती, से भर रखे हैं शीशे
पहुँचाते मुँह तलक है नलियाँ रबड़की रेशे।' (पृ० ९५ ६)

कहिये आया कुछ समझ में? यदि हाँ तो बच्चेको समझा देखिये, कितनी सरलता से क्या कुछ समझता है? जो हो, अन्तमें हमें दिखा यह देना है कि इस पोथी में अंगरेजी की चाशनी भी कुछ कम चोखी नहीं है। प्रमाण के लिए उसका एक महावाक्य लीजिये।

"हर एक उम्मीदवार अपने इलाकेके राय देनेवालेसे मिलता है और उनसे कहता है कि वह डिस्ट्रिक्ट बोर्डमें उनकी भलाईका काम करेगा और वह अपनी राय उसे दें।" (पृ०५७-५८)

अब यदि आप इसे हिंदुस्तानी समझते हैं तो समझते रहें पर यह हमारे देशकी भाषा तो है नहीं। यह तो प्रत्यक्ष ही किसी अंगरेजी वाक्यका उल्था है जो कुछ उर्दूके सहारे हिंदुस्तानी अक्षरोंमें ढाल दिया गया है। व्याकरणकी दृष्टिसे जहाँ 'देनेवाले' की जगह 'देनेवालों' चाहिये वहीं 'वह की जगह 'वे'। माना 'लखनऊ' की कृपा से 'वे' उर्दूसे

उठ गया पर अभी वह हिंद क्या स्वयं देहलीमें भी तो चलता फिरता दिखाई देता है, फिर कोई हिंदुस्तानी उसे क्यों छोड़ दे। रही सीधे और टेढे अथवा 'डाइरेक्ट' और इनडाइरेक्ट' की बात। सो हमारी भाषा सीधी है, टेढ़ी नहीं। इनडाइरेक्टसे उसका क्या काम? यदि समझ हो तो उसके स्वरूप को पहचानो और अपने भोलेभाले बच्चोंको इस भूतनी से बचाओ। नहीं तो हिदुस्तानीकी 'हुमा' तो आपको बादशाह बना देगी पर आपकी सन्तानोंके लिए रहेगी वह 'हौवा' ही।

८—बिहार और हिंदुस्तानी

'बिहारके कुछ साहित्य सेवियों' की ओरसे 'बिहार और हिंदुस्तानी' नामकी एक छोटी सी पुस्तिका, विद्यापति हिंदी सभा, दरभंगासे निकली है। उसके स्वाभिमानी लेखकका कहना है कि—

'श्री चन्द्रबली पांडेयजीकी पुस्तक ('बिहारमें हिन्दुस्तानी') में जगह जगहपर यह ध्वनि टपकती है कि बिहारियोंको शुद्ध भाषा लिखना और बोलना नहीं आ सकता। एक जगह तो उन्होंने यहाँतक लिख मारा है 'भाषाके क्षेत्रमें बिहारी सज्जन किस दृष्टिसे देखे जाते हैं, इसके कहनेकी कदाचित् कोई आवश्यकता नहीं'।

'यदि इतने अपमानपर भी बिहारी सज्जन मुँह नहीं खोलते तो इसके दो ही मानी निकलते, या तो वे नितान्त अयोग्य हैं अथवा स्वाभिमानशून्य। परंतु श्री चन्द्रबली पाण्डेयजीको जानना चाहिये कि बिहारमें भी योग्यता और स्वाभिमान रखनेवाले लोग हैं और समय पड़नेपर आक्रमणका भरपूर जवाब दे सकते हैं। उनके अनौचित्यपूर्ण कथनका प्रतिवाद करनेके लिए ही जवाबमें यह पुस्तक लिखी गयी है। यदि वे वाद प्रतिवादका' सिलसिला आगे बढ़ाना चाहें तो हम सहर्ष उसके लिए तैयार हैं। (दो शब्द, पृष्ठ २-३)

"जगज्जननी जानकी तथा गौतम बुद्धकी पुण्य भूमि" में रहनेवाले जीवोंकी स्वतन्त्र सत्ता "औरंगजेब और वाजिदअली शाहकी राजधानियोंमें बसनेवाले' 'इरानी तूरानी नज्ज़ादों' अथवा 'नजीबों' और 'मर्दुओं' की बोली-ठठोलीकी नकलमे नष्ट हो जाय और बिहारकी जबानकी लगाम किसी हिंदी-द्रोहीके हाथमें सौंप दी जाय जो बिहारी नहीं चाहे हापुड़ी भले ही हो।

'जगज्जननी जानकी तथा गौतम बुद्धकी पुण्य भूमिमें रहनेवाले हिंदुओंकी धर्मनिष्ठा भी देख-लीजिये। डाक्टर आज़म करेवी (कुरीबी ?) कहते हैं—

"उसके एक घंटेके बाद जब सत्यनारायणकी कथामें गाँववालोंको बड़ा मजा आ रहा था, सुन्दरिया चीखती चिल्लाती आयी। इसकी आँखोंमें आँसू थे। चेहरा गुस्सेके मारे तमतमा रहा था। उसने चिल्ला कर कहा—'पंडितजी महाराज! दोहाई है. गाँववालोंकी दोहाई है लालाजीने (यजमान) मेरी इज्जत ली है।' लालाजी एक तरफसे लपके हुए आये। उनकी आँखें लाल हो रही थीं, और पॉव डगमग रहे थे। इन्होंने जोधाको हुक्म दिया—'यह पागल है। इस बदमाश औरतको बाहर निकाल दो।" (बगुलाभगत पृ० ११)।

इधर युक्तप्रांतके 'अलमोड़ा' के मियाँ अब्बू खाँकी बकरीकी दीनपरस्तीपर भी गौर कीजिये। डा० जाकिर हुसैन साहब जैसे गांधी-प्रिय मुसलमान का कहना है—

'सितारे एक एक करके गायब हो गये। चाँदनीने आखिरी वक्त अपना जोर दुगुना कर दिया। भेड़िया भी तंग आ गया था कि दूरसे एक रोशनी सी दिखाई दी। एक मुर्गने कहींसे बाँग दी। नीचे बस्तीमें मस्जिदसे अजानकी आवाज आयी। चाँदनीने दिलमें कहा कि अल्लाह तेरा शुक्र है। मैंने अपने बशभर मुकाबिला किया, अब तेरी मरजी। मुअज्जन आखिरी दफा अल्लाह अकबर कह रहा था कि चाँदनी बेगम जमीनपर गिर पड़ी। उसका सफेद बालोंका लिबास खूनसे बिलकुल सुर्ख था।' (अब्बू खाँकी बकरी, पृ० १२)।

सत्यनारायणकी कथा के व्यभिचार (विहार) और अब्बू खाँकी बकरी के इसलाम (युक्तप्रांत) की आलोचना 'विहारके कुछ साहित्य-सेवी' स्वयं आसानीसे कर सकते हैं और अब 'होनहार' के मुख पृष्ठपर अंकित चित्रको भी भलीभाँति हृदयंगम कर सकते हैं। उसके संबंधमें हमने 'बिहारमें हिंदुस्तानी' में संकेत किया है। हाँ, यहाँ उन्हें इतना और जान लेना चाहिये कि उक्त पुण्य भूमिके सयानों को अब हिंदू धर्मका यह और इतना ही परिचय दिया जायगा कि—

"यह धर्म बहुत पुराना है। आर्योंको आबादीके साथ ही इस धर्मकी पैदाइश हुई। इसकी जड़ वेद है। ब्राह्मणोंने इस धर्मका प्रचार करनेमें बड़ी कोशिश की इसलिये इसका दूसरा नाम ब्राह्मण धर्म भी है। इसमें कई संप्रदाय या फिरके हो गये हैं। बौद्ध-धर्म और जैन-धर्म भी इसीके फिरके हैं। मगर आज बौद्ध-धर्मका बोलवाला हिंदुस्तानसे बाहर तिब्बत, चीन, जापान, स्याम, लंका वगैरह मुल्कोंमे भी है। हिंदू धर्ममें मुख्य नसीहतें ये हैं। (१) किसीको तकलीफ न पहुँचाओ। (२) दूसरेकी चीज वगैर उससे पूछे न लो। (३) हमेशा सच बोलो। (४) मौकेपर अपनी ताकतके मुताबिक खैरात करो। (५) पराई औरतों पर बुरी नजर मत रक्खो। (६) ज्यादा लालच न करो। (७) बड़े बूढ़ोंकी क़द्र करो। (८) सब जीवोंपर दया करो। इस धर्मका चलानेवाला कौन था इसका पता नहीं।' (दुनियाँके बड़े-बड़े मजहब, पृ० १-२)।

गौतम बुद्धके पुण्य देशके निवासियोंके लिये हम इतना और निवेदन कर देना चाहते हैं कि मुसलिम साहित्यमें गौतम बुद्ध 'बोज़ आसफ़' नाम के पैगम्बर के रूपमें ख्यात हैं और अब्बासियों के प्रसिद्ध मंत्री बरामका पहले बौद्ध ही थे। दाराशिकोहका तो यहाँतक कहना था कि क़ुरानशरीफमें उपनिषदोंका संकेत है। फिर भी हमारी यह दशा ?

पारसी मतके विषयमें हिन्दू धर्मसे दो एक शब्द अधिक लिख दिये गये हैं किन्तु पारसी मतका कोई परिचय नहीं दिया गया है। केवल इतना कह दिया गया है कि 'दुनियामें इस मजहब को फैलानेवाले एक

बहुत बड़े पैगम्बर (दूत) 'जरतसव' थे।' बस इसके बाद पारसियोंका परिचय दिया गया है। 'जरतसव' !

आर्यमतोको इस प्रकार चलता कर शामी मतोंका गुणगान किया गया है और ९ पृष्ठके लगभग उनके लिये सुरक्षित कर लिया गया है। इसलामके विषयमें जो कुछ लिखा गया है उसका प्रभाव क्या पड़ेगा, इसकी कल्पना कुछ तो इसी वाक्यसे हो जाती है—"कुरान अल्लातालाकी भेजी हुई किताब है और उसमें रोजा नेमाजके अलावा दुनियाँकी हर बातोंके बारेमें लिखा हुआ है।" और कुछ इस वाक्य से कि—"आपने बताया है इसलाम मजहबमें राजपाट और मजहब एक ही चीज है।" उधर 'कुरान' में सभी बाते हैं, इधर राजपाट और मजहब में भेद नहीं। फिर क्या ?

एक बात और। यही अनीसुर्रहमान साहब 'जगद्गुरु और भंगी' के भी लेखक हैं। 'होनहार' के संपादक भी यही हजरत हैं। आप इसलामके प्रसंगमें तो 'अमीरुलमोमेनोन' और 'खलीफतुल मुस्लेमीन लिख जाते हैं पर शंकराचार्यके मुँहसे 'घृणाके योग्य' नहीं कहा सकते; नहीं, उनकी भाषाको तो और भी अरबी बना देते हैं। देखिये तो सही, कितनी सटीक भाषा है। जगद्गुरुजो कितनी साफ उर्दू में फरमाते हैं—

"हाँ, बेशक ! हिन्दू धर्मके हिसाबसे तू यकीनी काबिले नफरत है।"

अब 'मजीद मल्लिक' की लिखी रंगमें भंग' का रंग देखिये। 'जगज्जननी जानकीकी पुण्य भूमि' में क्या और किस ढंगसे हो रहा है? कहाँकी संस्कृति उसमें बोल रही है ? 'वाग्दत्ता' किस धर्मका प्रतिपादन कर रही है ? बिहारके पंडितोंके घरकी यह दशा ! इसमें समस्त हिन्दू जातिका अपमान है—

"रामकिशोर (दुलहा)—मैं यह अर्ज करना चाहता हूँ कि मुझे—मुझे शादी मंजूर है।

पंडित करताकिशुन (दुलहिनके बाप)—मुझे मालूम था कि यही होगा। सिर्फ मुझे जलील करनेके लिए यह किया गया।

रामकिशोर—नहीं, नहीं, हरगिज नहीं। यह आप क्या कहते हैं ?

'पंडित करताकिशुन—मेरी किस्मतमें यही जिल्लत लिखी थी।

पंडित श्यामलाल (दुल्हेका बाप)—ऐसी बात जबानपर मत लाइये। आप हम सबके बुजुर्ग हैं।

(दुलहिन अपनी नजर जमीनसे उठाती है और दुलहा के चेहरेपर गाड़ देती है। रामकिशोर उसकी तरफ देखता है, लेकिन घबराके निगाहें नीची कर लेता है)।

शकुन्तला (दुलहिन)—बेशक, खतम हो गया। तमाम किस्सा हमेशाके लिये खतम हो गया (पृ० १०)।"

बस! कृपया भूल न जाइये कि वाजिदअली शाहके लखनऊ अथवा नासिखके इस्फहानकी "औरतोंकी जबानपर हिन्दी अल्फाज बकसरत हैं। इसलिये रेखती तो सरासर हिन्दी रंगमें डूबी हुई है।" (मुईनुद्दीन अहमद नदवी, हिन्दुस्तानी (उर्दू) १९३८ ई० पृ० २०८)।

अन्तमें हमारा यह नम्र निवेदन है कि हमारे 'कुछ साहित्यसेवी' जमानेके रूखको देखें और इसे प्रांतीयताका रंग न दें। 'बिहारमें हिंदुस्तानी' को अच्छी तरह समझनेके लिए कमसे कम हमारी 'भाषा का प्रश्न', और 'कचहरी भाषा और लिपि' नामक पुस्तकोंका अध्ययन कृपाकर अवश्य करें और युक्तप्रांतकी हिंदुस्तानीकी धज्जियाँ भी खूब उड़ायें। हमारे सामने तो इस समय समूचा हिंद है।

लेख समाप्त करते करते एक बात और सामने आ गई। हिंदी साहित्य सम्मेलन के गत (काशी के) अधिवेशन में देशरत्न राजेन्द्र बाबूने स्पष्ट कर दिया था कि मुझे बिहार की सयानी रीडरोंका कुछ पता नहीं है और प्रो० अमरनाथ झाने भी 'लीडर', सरस्वती' आदि में यह स्पष्ट घोषित कर दिया है कि उनका उक्त कमेटीसे कोई भी संबंध नहीं है। फिर भी हमारे सयाने बिहारके कुछ साहित्यसेवी लिख मारते हैं कि उसमें 'डा० अमरनाथ झा जैसे लोग भी हैं।' बात बिल्कुल ठीक है। यदि उन्हें स्थितिका ठीक ठीक पता होता तो यह हिंदुस्तानी हुरदंगा ही क्यों मचाया जाता?

बिहारके कुछ साहित्य-सेवियोंका दावा या स्वाभिमान तो यह है कि—

"आपको मालूम होना चाहिये कि जगज्जननी जानकी तथा गौतम बुद्धकी पुण्य भूमिमे रहनेवाले हिंदुओंमें अब भी वेशभूषा, भाषाभाव, तथा आचार-व्यवहारमें उतना परिवर्तन नहीं हुआ है जितना औरंगजेब और वाजिदअली शाहकी राजधानियोंमें बसनेवालोंका।' (पृ० ३७)

किंतु करनी यह है कि बिहारको युक्तप्रांतका 'नकलची' बनाया जा रहा है और यदि उनसे कहा जाता है कि भैया ! आपकी भाषा हिंदी है और फलतः आपके यहाँके निरक्षर सयाने हिंदीमें शीघ्र साक्षर हो जायँगे तो हमको मैदानमें उतर आनेकी चुनौती दी जाती है।

क्या हम 'बिहारके कुछ साहित्यसेवी' की 'बिहार और हिंदुस्तानी' को समूचे विहार की करनी समझ लें ? नहीं, कदापि नहीं। वह तो किसी शरणजीकी 'भानमती की-पिटारी' है। उसके सयाने लेखकों को इतना भी पता नहीं कि शब्दका अर्थ वाक्यमें खुलता है, कुछ कोश में नहीं। फिर भी हमारे सयाने 'बिहारके कुछ साहित्यसेवी' न जाने किस आधार पर खड़े होकर हमें ललकार रहे हैं पर अपने ढंगपर कह वही रहे हैं जो हम कहते आ रहे हैं अथवा अभी जो कुछ और कहना चाहते हैं। बस विहार को इस प्रश्न पर डट कर विचार करना चाहिए और 'राजेन्द्र रीडर' के 'दो भाई' का अध्ययन आँख खोल कर करना चाहिये। यदि उन्होंने उक्त 'दो भाई' की कहानीको जान लिया तो 'होनहार' के चित्रको भी समझ लिया। रही तुर्की टोपीकी बात। सो उसके लिए 'कचहरीकी भाषा और लिपि' अथवा जून १९३९ की 'वीणा' में प्रकाशित 'हिंदू मुसलिम समस्या' शीर्षक लेख पढ़नेकी कृपा करें, उससे उनकी आंख खुलेगी।

६—बेसिक हिसाबकी पहली पुस्तक

वर्धा की शिक्षा-परिपाटीने धीरे धीरे युक्तप्रान्तमे भी अपना पाँव पसार दिया और प्रांतके शिक्षा-विभागकी ओरसे कुछ बेसिक पोथियाँ

भी निकल आई। इन पोथियोंकी भाषा-नीति क्या रही है, इस पर विचार करनेकी आवश्यकता नहीं। यहाँ विहारकी भांति हिंदी और उर्दूको एक करनेका प्रयत्न नहीं रहा है। यहाँ हिंदी हिंदी और उर्दू उर्दू रखी गई है। परंतु यह तो कहनेकी बात रही है। वस्तु-स्थिति तो यह है कि इन पुस्तकोंकी भाषा-नीति कुछ और ही है। इनकी उर्दू तो उर्दू है पर इनकी हिंदी हिंदी नहीं और चाहे जो हो। चाहें तो उसे हिंदुस्तानी कह सकते हैं, क्योंकि भाषाको भ्रष्ट करना ही हिंदुस्तानी का ध्येय है।

'बेसिक हिसाब की पहली पुस्तक' की 'प्रस्तावना' में ही उसके रचयिता डा० इबादुर्रहमान खाँ का महावाक्य है—

"हमारे डायरेक्टर आफ पब्लिक इन्सट्रक्शन मि० जे० सी० पावल प्राइस इन पुस्तकोंके निकलनेके विषयमें बहुत उत्सुक रहे हैं और यह पुस्तक उनके प्रोत्साहन तथा सलाहका ही फलस्वरूप है। इस पुस्तकका कापीराइट प्रांतीय सरकारका है।"

यही बात 'बेसिक हिसाबकी पहली किताब' के 'पेशलफ्ज़' में इस प्रकार लिखी गई है—

"हमारे डायरेक्टर सरिश्तये तालीम जनाब जे० सी० पावल प्राइस साहब इसके बड़े ख्वाहाँ थे और यह किताब उन्हींकी हौसलः अफ़ज़ाई और मशविरोंका नतीजा है। इस किताबके जुमलः हुकूक गवर्नमेंटके नाम महफ़ूज है।"

'यह पुस्तक उनके प्रोत्साहन तथा सलाहका ही फलस्वरूप है' कहाँ की हिंदी भाषा है यह हम तो नहीं कह सकते। हमें यहाँ कहना तो यह है कि हिदी में तो 'डायरेक्टर आफ पब्लिक इन्सट्रक्शन', 'मिस्टर' और 'कापीराइट' का प्रयोग हो सकता है, पर उर्दूमें इन्हें 'सरिश्तये तालीम', 'जनाब' और 'जुमलः हुकूक' का जामा पहनना ही होगा। इसका अर्थ यह हुआ कि हिंदीके लिये तो यह सब नया है पर उर्दूके लिये परम्परागत अथवा उर्दूमें तो फारसी-अरबीके सहारे नये नये शब्द गढ़े जा सकते हैं किन्तु हिंदीमें किसीके सहारे कदापि नहीं।

उर्दूमें 'साहब' का प्रयोगकर यह स्पष्ट दिखा दिया है कि उर्दू शिष्ट भाषा है और हिंदी वस्तुतः भोंडी और भद्दी।

यह तो हुई प्रस्तावनाकी बात। अतएव इसे छोड़ अब मूल पाठ पर आइये। पृष्ठ ४३ पर प्रश्न किया गया है :— १—"एक गजमे कितने फीट हुए।" यही प्रश्न उर्दूमें इस प्रकार है :— १—"एक गजमें कितने फुट हुए।" विचार करनेकी बात है कि हिन्दीमें तो फुटका बहुबचन 'फोट' दिया गया है किंतु उर्दूमें उसे फुट ही रहने दिया गया है। प्रसिद्ध वात तो यह है कि वास्तवमें उर्दूका कोई अपना निजी व्याकरण नहीं। उसका व्याकरण बहुत कुछ फारसी-अरबीके सहारे खड़ा होता है और उसके बहुवचन भी भाँति-भाँति से बनते हैं, पंरतु यहाँ सिद्ध इसके प्रतिकूल हो रहा है। यहाँ हिंदी में 'फुट' का बहुवचन अंगरेजी के ढंग पर 'फ़ीट' बनाया जा रहा है जो हिंदी की दृष्टि से नितांत अशुद्ध है। हम हिंदी में इसे इस प्रकार तो लिख नहीं सकते कि 'एक गज़ मे कितने फुटे हुए' फिर यह 'फीट' का प्रयोग कैसा ? यह तो हिंदी नहीं हिंदी भाषा का उपहास है। भोलेभाले बालकों पर इसका क्या प्रभाव पड़ेगा ? यही न कि हिंदी का अपना कोई मार्ग नहीं ? और यहाँ इसी प्रकार का गड़बड़-झाला चलता रहता है ?

एक अन्य वाक्य लीजिए। पृष्ठ ४४ पर कहा गया है कि "५ तोले तराज़ू के एक तरफ और १ छटाँक दूसरी तरफ रक्खो।" पता नहीं कि डाक्टर खाँ महोदय को ओर से इतनी चिढ़ क्यों है कि हिंदी पुस्तक में भी उसको स्थान नहीं देते और छोटे-छोटे हिंदी बच्चों के सामने उस 'तरफ' को ला देते हैं जो एक ही वाक्य मे 'स्त्री' और 'पुरुष' दोनों वन जाता है। क्या डाक्टर खाँ यहाँ भी यह पढ़ाना चाहते हैं कि हिदी मे लिंग का कोई नियम नहीं है, जो चाहे जिस रूप मे एक ही शब्द का एक ही वाक्य मे प्रयोग करे ? अथवा यह उनके कर्मचारियो की असावधानी का परिणाम है ? अथवा वह यह चाहते हैं कि 'ग़ालिब' से सीख लेकर वालकों को यह बताया जाय कि तोले की ओर स्त्री और

छटाँक की ओर पुरुष होने के कारण एक ही 'तरफ़' ने यह भिन्न-भिन्न लीला की है? रथ के लिंग का रहस्य 'ग़ालिब' ने कुछ इसी ढब से खोला था न!

यही नहीं, यदि वाक्य की गड़बड़ी देखना चाहें तो इस वाक्य-योजना को लें—"३ पाव रुई साफ करने के लिये एक दर्जे में दो गई और हर लड़के ने २ तोला पाई।" (पृ० ४५) क्या यही है युक्त प्रांत की वह हिंदी जो उर्दू और हिंदुस्तानी से सर्वथा भिन्न शिष्ट हिंदी कही जाती है?

एक और छोटा सा सीधा वाक्य लें और इस बेसिक शिक्षा की भाषा-नीति के मूल में पैठें। देखें, प्रश्न है—६-"दो जगहों का सबसे कम फ़ासलः सीधी लकीर जाहिर करती है या टेढ़ी लकीर?" इसी की हिंदी है-"२ जगहों का सबसे कम फ़ासला सीधी लकीर बताती है या टेढ़ी लकीर?" ध्यान देने की बात है कि 'बताती है' तो उर्दू नहीं है पर 'जगह', 'फ़ासला' और 'लकीर' हिंदी अवश्य हैं। हम 'खाँ' महोदय से पूछना चाहते हैं कि "२ स्थानों की सबसे कम दूरी सीधी रेखा बताती है या टेढ़ी रेखा?" हिंदी क्यों नहीं है और क्यों 'जगह' 'फ़ासला' और 'लकीर' ही हिंदी है?

हमारी हिन्दी की दशा तो यह है कि यहाँ बिल भी 'चुकता' नहीं 'अदा कर दिया' जाता है, देखिए—

"दस-दस रुपये के कितने नोट चाहिए ताकि सब रकम अदा हो जाय और कुछ बाकी भी रहे। तीस रुपये बारह आने में से क्या बच रहेगा अगर सब बिल अदा कर दिये जायँ और सवा रुपया फुटकर खर्च हो?"

यह तो हुई हमारी हिंदी। अब इसकी उर्दू देखिए—"दस दस रुपयः के कितने नोट चाहिएँ ताकि सब रक़म अदा हो जाये और कुछ बाक़ी भी रहे। तीस रुपयः बारह आने में से क्या बच रहेगा अगर सब बिल अदा कर दिए जायें और सवा रुपयाः मुतफ़र्रिक़ खर्च हो।"

तनिक सोचिए तो सही कि क्यों हिंदी में तो 'ताकि' 'रकम', 'अदा' 'बाक़ी', 'अगर' और 'खर्च' आदि सभी विलायती शब्द खप सकते हैं

पर उर्दू में 'फुटकर' भी नहीं जी सकता और 'रुपये' को फारसी रूप धारण कर 'रुपयः' बनना पड़ता है! क्या हिंदी में 'जिससे', 'धन', 'चुकता', 'यदि', 'व्यय' आदि प्रतिदिन के व्यवहारके प्रचलित शब्दों का व्यवहार ठीक नहीं होता कि उन्हें खदेड़कर उनका स्थान दूर के मनबुझे फारसी-अरबी शब्दों को दिया गया है?

अब यदि युक्तप्रांत के शिक्षा- विभाग की यही नीति है कि हिंदी के अत्यत प्रचलित नित्य प्रति के व्यवहार के घरेलू शब्द भी बालकों को पाठ्य पुस्तकों मे न रहने दिए जायँ और उनकी जगह ढूँढ़ ढूँढ़ कर फारसी-अरबी के किताबी शब्द रखे जायँ तो सरकार चाव से ऐसा कर सकती है और उन्हें लाठी के बल पर चला भी सकती है पर हिंदी पर इतनी कृपा तो उसकी होनी ही चाहिए कि उसे वह इस प्रकार भ्रष्ट न करे। जब प्रभुता उसके हाथ में है तब कोई कारण नहीं कि वह उर्दू अथवा हिंदुस्तानी का प्रयोग खुलकर क्यों न करे? हम तो किसी भी दशा में यह मानने से रहे कि डाक्टर इबदुर्रहमान खाँ ने बेसिक स्कूलों की प्रथम कक्षा के लिए' कोई हिंदी की पुस्तक लिखी है। आप चाहें तो उसे हिंदुस्तानी की पुस्तक मान सकते हैं। क्योंकि उसकी भ्रष्ट भाषा को हम किसी अन्य रूप में देख ही नहीं सकते। क्या युक्तप्रांत के शिक्षा-विभाग के कर्णधार श्री जे० सी० पावल प्राइस महोदय से यह आशा की जा सकती है कि उनके उदार अनुशासन में हिंदी की इस प्रकार की हत्या न होगी और हिंदी भी उर्दू की भांति ही अपना स्वतंत्र विकास कर सकेगी? यदि उनका उद्देश्य किसी हिंदुस्तानी का निर्माण करना होता तो सम्भवतः हम मौन ही रह जाते परंतु जब हम देखते हैं कि हिंदी की ओट में हिंदी की चिंदी बनाई जा रही है तब हम उनका द्वार क्यों न खटखटाएँ। क्या खटखटाने से उनका द्वार खुलेगा और उनके घर में हिंदी को स्थान मिलेगा?

१०—केर बेर को संग

'बादशाह दशरथ' की बात अभी पुरानी भी न होने पाई थी कि बिहार के प्रांतीय हिंदी-साहित्य-सम्मेलन ने जोम में आ कर उसकी धूम मचा दी और दलबल के साथ 'हिंदुस्तानी' के घेरे से निकालकर उसे हिंदी की छाती पर बिठा दिया। अब कौन कह सकता है कि 'बादशाह', 'शहर', 'कुल', 'महल', 'मकान', 'किला', 'वग़ैरह' आदि के लिये भी हिंदी में कुछ अपने शब्द हैं। अब तो हमें भी विवश हो मानना ही पड़ेगा कि पाटलिपुत्र के विश्वविख्यात सम्राट् वास्तव में 'बादशाह' थे और 'महल', 'मकान' एवं 'किले' में रहा करते थे और वहाँ कभी कोई 'सुगाई नामक महल' भी था; क्योंकि बिहार हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के 'हिंदी' खंड में 'पाटलिपुत्र' के 'अतीत' के विषय में प्रश्न हुए हैं:—

"(३) पाटलिपुत्र पर किन वंशों के बादशाहों ने राज किया ?

(४) किन कारणों से इतने बड़े शहर के कुल महल, मकान और किले वग़ैरह नष्ट हो गये ?" (साहित्य संग्रह, प्रथम भाग, पृ० ६१) और अभिमान के साथ लिखा गया है —

"शकों के शासन से भार्शिकों ने मगध का उद्धार किया कौमुदीमहोत्सव नाटक से जान पड़ता है कि चन्द्रगुप्त के अभ्युदय के कुछ ही पहले राजा सुन्दर वर्मा मगध पर राज करते थे और पाटलिपुत्र के सुगाई नामक महल में रहते थे।" (वही, पृ० ६०)

'भारशिवों' और 'सुगांगप्रासाद' का पता तो हमें भी था; किन्तु 'भार्शिकों' और 'सुगाई महल' की खोज प्रांतीय संमेलन के प्रधान मन्त्री ने ही की होगी! इसी प्रकार 'ताम्रलिपियों' का पता भी पहले-पहल यहीं लगा है। आप कहते हैं "ईसा की बारहवीं शताब्दी की कुछ ताम्रलिपियों से जान पड़ता है कि बम्बई का दक्षिणी हिस्सा और उत्तर मैसूर नन्द राजाओं के अधिकार में था।" (वही पृ० ५७)

हमने कभी राष्ट्र के लिये 'जेलयात्रा' नहीं की अतएव कह नहीं

सकते कि 'भार्शिकों', 'सुगाई महल' तथा 'ताम्रलिपियों' के अपूर्व अनु-संधान से राष्ट्र का उद्धार होगा अथवा नहीं, परतु 'प्राचीन पटना' का अभिमानी होने के कारण ललकारकर कह सकते हैं कि इस प्रकार की भोंडी शिक्षा देनेवाले मागधों को कहीं डूब मरना चाहिए। बस, हो चुका, अब अपने पूर्वजों का नाम मत लो और चाहो तो शौक से इस प्रकार को 'शुद्ध' (?) हिंदी को अपनी मातृभाषा बना लो—

"'अ' ने अदालत को अदब से आदाब कर इस प्रकार अर्ज किया:—मि० लार्ड्स ! आज जिस अपील को लेकर मैं इस अधिवेशन में खड़ा हुआ हूँ, वह अत्यंत अभिनव है। जहाँ तक मुझे मालूम है, इस अमल का कोई मामला पहले नहीं उठा था और न उस पर कोई फैसला ही है कि नजीर में पेश किया जा सके। तो भी जहाँ तक हो सकेगा मैं बहुत साफ तौर से हुजूर को समझाऊँगा कि हमारा केस क्या है और हमारा दावा किन बातो पर निर्भर है। हुजूर ध्यान से सुनें" (वही, हिंदी खंड, पृ० ६३)

'हिंदी-साहित्य' की 'इस शुद्ध हिंदी' में 'अधिवेशन', 'अत्यंत' 'अभिनव', निर्भर' और 'ध्यान' कहाँ से आ गये, यही आश्चर्य है। इसी रंग को देखकर तो यार लोग कहा करते हैं कि 'हिंदी' हम लोगों को चिढ़ाने के लिये गढ़ी गई है; नहीं तो उर्दू को तो हिंदुस्तान का बच्चा बच्चा समझता है।

बिहार-प्रांतीय हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के 'हिंदी' खंड के विषय में कुछ और निवेदन करने की आवश्यकता नहीं, उसे आप स्वयं भी देख सकते हैं और सहज में ही समझ सकते हैं कि उसमें आपकी प्रिय संतान के लिये कौन-सी अनुपम अमिय-घूँट है। रही हिंदुस्तानी की बात, सो आपको उसकी चिंता क्यों है ! उसके रथ पर तो बड़े-बड़े 'बाबू' और 'महात्मा' हैं फिर उसे किसी की क्या पड़ी है कि आप की सुधि ले ! हाँ, उर्दू का रंग अवश्य देखिये। यही तो लोचन-लाभ है?

बिहार की हिंदी की आठवीं कक्षा के लिए साहित्य-संग्रह, प्रथम भाग है तो उसकी उर्दू की 'आठवीं जमाअत' के लिये 'निसाबे जदीद,

हिस्सः अव्वल'। दोनों में 'हिंदुस्तानी' है, किंतु तनिक पाठभेद के साथ। परीक्षा के हेतु पं० जवाहरलाल नेहरू' को पढ़ देखिए। सम्भव है आप इस 'साहित्य-संग्रह' के हिंदुस्तानी क्रम को देखकर चकित रह जायँ और समझ न सकें कि किस न्याय से '६' के बाद '१' फिर '३' और फिर '२' पाठ्य क्रम रखा गया है और ४ एवं ५ को यों ही त्याग दिया गया है; परतु इससे क्या? आपको तो 'साहित्य-संग्रह' और 'निसाबे जदीद' की हिंदुस्तानी एकता का लेखा लेना है। अच्छा, तो हिंदी की हिंदुस्तानी में लिखा गया है—

"गांधी जी के बाद जिसका नाम सबसे ज्यादा जगजाहिर है उस पं० जवाहरलाल नेहरू का नाम भला किस बच्चे ने नहीं सुना होगा?" (सा० सं०, पृ० १२१) एवं उर्दू की हिन्दुस्तानी में कहा गया है—

"गांधीजी के बाद जिन लोगों का नाम सबसे ज्यादह जगत जाहिर है उनमें प० जवाहरलाल नेहरू का नाम भला किस बच्चे ने नहीं सुना होगा।" ('निसाबे जदीद', पृ० ९७)

'साहित्य-संग्रह' और 'निसाबे जदीद' के पाठभेद पर विचार करना व्यर्थ है। 'साहित्य-संग्रह में कहा भी गया है कि "हिंदुस्तानी के नमूने स्वरूप जिन लोगों का यहां संग्रह हुआ है उनमें कहीं कहीं दो-एक शब्द बदल देने की जरूरत पड़ी है।" निदान जब तक इस 'बदल' का भेद नहीं खुलता तब तक हम यही कहना चाहते हैं कि एकता का ढोंग यहां भी न चल सका और अन्त में उक्त सम्मेलन का मुंह खुल ही गया। हिंदुस्तानी के पुजारियों को मैदान में आकर इस गुत्थी को समझाना चाहिये; अन्यथा उन्हीं का 'साहित्य संग्रह' उनकी पोल खोल रहा है और चुनौती देकर कह रहा है कि सब सही, किंतु क्या तुम सच्चे भी हो? बस, 'लिखित' की पाक-भावना का दर्शन करना हो तो कृपा कर हिंदी के कर्णधारों के पवित्र नामों का पाठ कीजिए। लीजिए वे आपके सामने प्रस्तुत हैं—

"गौरी सिंघ, हीराचन्द, ओझागर, धरसिंघ ठाकुर,....

گوری سنگھ ہیراچند اوجھاگر دھرسنگھ ٹھاکر .....

गीतभटन, दोबदी, महाबीरपरशाद दोबरी, हेमराज दास”
ہیم راج داس مہابیر پرشاد دوبری دوبدی گیت بھٹن
(पृ० १४९) आदि। कहां तक कहें आप स्वयं अपने साहित्य के इतिहास को आँख खोल कर पढ़ जायँ और उर्दू के गूढ़ एवं व्यवस्थित भीतरी चक्र को भली भांति परख लें। ध्यान देने की बात यहाँ यह भी है कि उर्दू के इस ‘इंतखाबात हिंदी अदब में यह अंश भी उर्दू ही है, इसकी भाषा तो वही उर्दू है, पर विषय ‘हिंदी अदब की तारीख’ अवश्य है। निदान निष्कर्ष यह निकला कि उर्दू का बच्चा हिंदी को पढ़ नहीं सकता और हिंदी के बालक को उर्दू पढ़नी ही होगी। ‘निसाबे जदीद’ के ‘हिंदी खंड’ का प्रथम पाठ तो निश्चय ही उर्दू ठहरा, अब दूसरे पाठ ‘रानी केतकी की कहानी को लीजिये। उसके विषय में निवेदन है कि वह ‘अरबी’, ‘फारसी’, ‘भाषा और ‘संस्कृत’ आदि से मुक्त उर्दू है। उसमे फारसी अरबी के शब्द नहीं हैं किंतु जो हिंदी शब्द उसमें लिये गये हैं वे टकसाली उर्दू के ही शब्द हैं कुछ शुद्ध हिंदी के कदापि नहीं। देखिये—

“किसी देस मे किसी राजः के घर एक बेटा था। उसे उसके माँ बाप और घर के लोग कुँवर उदैभान करके पुकारते थे। सचमुच उसके जोबन की जोत में सूरज की एक सोत आ मिली थी।” (पृ० १५१)

‘सैयद इंशा की हिंदवी छुट * नामक लेख में दिखाया गया है कि ‘रानी केतकी की कहानी मे एक भी ऐसा शब्द नहीं है जिसे ‘उर्दू’ के ‘अच्छे से अच्छे’ और ‘भले से भले’ लोग आपस में बोलते न हों। यही नहीं स्वर्गीय सर जार्ज ग्रियर्सन ने भी उसे इसी विशेषता के कारण प्रमाण मे रखा है और स्पष्ट कहा है कि वह उर्दू ही है। फिर भी जो लोग ‘रानी केतकी की कहानी’ को हिंदी मानने का हठ करते हों, उन्हें इसी निसाबे जदीद’ की एक दूसरी कहानी ‘एक कठिन रात’ को भी पढ़ देखना चाहिए और यह खूब समझ लेना चाहिए कि यह

---

* देखिए ‘उर्दू का रहस्य’ ना० प्र० सभा, काशी से प्रकाशित।

उसके सम्पादक अथवा 'जामिआ मिल्लिया' की दृष्टि में भी उर्दू की कहानी है। 'रानी केतकी' और 'एक कठिन रात' में अंतर केवल इतना है कि 'रानी केतकी' में कोई 'मुसलमानी' शब्द नहीं और 'एक कठिन रात' में दो एक हैं। तो क्या 'हिंदुस्तानी कमेटी' बिहार के उर्दू छात्रों को यही पाठ पढ़ाना चाहती है कि 'मुसलमानी' का बहिष्कार ही हिंदी है। उत्तर हाँ के अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकता। कारण स्पष्ट है। 'परिचय' के रूप में जो निर्देश किया गया है उसमें बड़ी चातुरी से झलका दिया गया है कि अपनी इसी विशेषता के कारण सैयद इंशा हिंदी गद्य के 'मूजिद' (ईजाद, आविष्कार करने वाले) बने। जो हो, इस पाठ के द्वारा जिन हिंदी शब्दों का बोध कराया गया है वे हैं १ लड़कपन, २ नारियाँ, ३ होता चला आया है, ४ लिखौटी, ५ दुख पड़ा, ६ सोचुकते (सकुचते), ७ मुखपात, ८ सफल (?), ९ लिखावट, १० आनन्दें, ११ सहाय, १२ अतीत, १३ भगाले, १४ सहती (सहित) १५ बघम्बर, १६ गाड़ (गाढ़), १७ विरोग, १८ आदेस, १९ जद, २० इंद्रासन, २१ तैसा, २२ अनक (?) २३ ईसरी, २४ उनके (को), २५ निरे, २६ उक्ति, २७ डालगों (?) रहस यह तड़ावे (?)। इस प्रकार हम देखते हैं कि उर्दू छात्रों को जो हिंदी शब्द सिखाये गये हैं वास्तव में वे प्रति दिन के बोलचाल के ठेठ शब्द हैं। यह बात दूसरी है कि अरबी लिपि के दोष के कारण उनके पहचानने में कठिनाई होती है और 'जामिआ मिल्लिया' तथा 'हिंदुस्तानी कमेटी' के लोग उन्हें नहीं समझ पाते अन्यथा वह बिहार के मुसलमानों की जीभ पर बसे हुए, प्रति दिन के घरेलू शब्द हैं।

उर्दू की उदारता, ईमानदारी और सचाई तो यह है कि उधर हिंदी के 'उर्दू भाग' में घोर उर्दू के ७ पाठ दिये गये हैं और एक से एक बढ़-कर फारसी अरबी के बीहड़ शब्द सिखाये गये हैं—'निम्फुन निहार' 'सब्जए खाबीदा', 'सबजाजार' और न जाने कितने बीहड़ शब्दों का कोश दिया गया है जो संख्या में २०० से कम न होंगे। ऊपर से 'हिंदु-स्तानी' की उर्दू अलग है। कहने का तात्पर्य यह है कि 'बिहारप्रांतीय

हिंदी-साहित्य-सम्मेलन' और दिल्ली की 'जामिआ मिल्लिया' का यह रूप दर्शनीय है। अतएव हम बिहार के प्रभुओ और कांग्रेसी साहित्यिको से साग्रह अनुरोध करते हैं कि वे कृपया अपने अभीष्ट को स्पष्ट करें और बिहार के प्रांतीय हिंदी-साहित्य-सम्मेलन को सदा के लिए अपना प्रिय खोजा बना लें जिसमें भविष्य में भी उर्दू का कोई आशका न रहे और तपस्विनी हिंदी भी अपनी धूनी कहीं अलग रमाए। उसे मर मिटने में जो शान्ति मिलेगी वह इस 'विरोग' मे नहीं।

११—रेडियो का आदाब अर्ज

अखिल-हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के पूना अधिवेशन के सभापति श्रीसम्पूर्णानन्द आज जेल मे पड़े हैं। उर्दू के लोग उनके अभिभाषण के एक अंश को ले बेतरह बरस पड़े हैं। इलाहाबाद की तो एक कांग्रेसी उर्दू चौकड़ी ने महात्मा गांधी जी का आसन हिला दिया है और राष्ट्र की पक्की गोहार लगा दी है। उधर दिल्ली की 'हमारी जबान' इस मैदान मे और भी आगे निकल गई है और उसने अपनी नादानी की एक बढ़िया दूकान ही खोल दी है। हैदराबाद के अखबार भी चिल्ला उठे हैं। बात यह है कि श्री सम्पूर्णानन्द ने अपने अभिभाषण में लिख दिया कि —

"सरकार का रेडियो विभाग तो हिंदी के पीछे हाथ धोकर पड़ा है। कहने को तो वह अपने को हिंदी उर्दू से अलग रखकर हिंदुस्तानी को अपनी भाषा मानता है पर उसकी हिंदुस्तानी उर्दू का ही नामान्तर है। मैंने शिकायतें सुनी हैं कि टाक्स में संस्कृत के तत्सम शब्दों पर कलम चला दी जाती है। यह हो या न हो, उसकी हिंदुस्तानी के उदाहरण तो हम नित्य सुनते हैं। यदि 'मृग' जैसा शब्द भी आ गया तो 'यानी हिरन' कहने की आवश्यकता पड़ती है पर 'शफ़क़', 'तसव्वुर', 'पेशकश' 'तखय्युल' जैसे शब्द सरल और सुबोध माने जाते हैं। रेडियो विभाग

समझता है कि साधारणतया हिंदू मुसलमानों के घर यही बोली बोली जाती है। रेडियो का 'अनाउन्सर' कभी नमस्कार नहीं करता, उसकी संस्कृति में 'आदाब अर्ज' करना ही शिष्टाचार है।"

श्रीसम्पूर्णानन्द के कथन की मीमांसा तो दूर रही, उर्दू अंतिम वाक्य को ले उड़ी। इलाहाबाद की चौकड़ी ने वही सरसैयदी पाठ सुनाया और तपाक के साथ कह दिया कि जब मुसलमान अरब और ईरान से आये तब उनके पास यह 'आदाब अर्ज' नहीं था। यह तो हिंदू मुसलिम मेल से बना। 'हमारी जबान' कुछ और भी खुली। उसने बड़े तपाक से कह दिया—

"ऐसा मालूम होता है कि हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के सदर (सभापति) 'आदाब अर्ज है' को भी मजहबी जुमलः समझते हैं। यह न अरब में मुस्तामल है न ईरान में, इसका मोहकमये रेडियो के तमद्दुन से कोई ताल्लुक नहीं और सरकारी मोहकमों का कोई अलग तमद्दुन नहीं होता बल्कि यह ऐन हिंदुस्तानी तमद्दुन के मुताबिक है।"
(१६ जनवरी, अंजुमने तरक़्क़ीए उर्दू (हिन्द) का पाक्षिक पत्र, दरियागंज दिल्ली। पृ० ३)

देखा आपने कितने पते की बात है ? 'आदाब अर्ज' न तो अरब में बोला जाता है और न ईरान में, न मिस्र में बोला जाता है और न तूरान में। तो फिर हिदुस्तान के सिर पर ही यह भूत सवार क्यों है ? बी उर्दू फरमाती हैं कि यह हिदू-मुसलिम मेल की निशानी है। हिंदुओं और मुसलमानों ने नमस्कार और सलाम को छोड़कर आपस के व्यवहार के लिये इसे बना लिया। सच पूछिये तो उर्दू के इसी फतवे में सारा भेद छिपा है। तनिक सोचिये तो सही कि 'आदाब अर्ज' के लिये इतना कठोर आग्रह क्यों है क्या इसलिये कि इसमें इसलाम समेटकर रख दिया गया है अथवा इसलिये कि इसके द्वारा 'एशिया' के अन्य मुसलिम मुल्कों अरब, ईरान आदि –से किसी प्रकार का सम्बन्ध जुट सकता है ? नहीं, कदापि नहीं। बेचारे अरब ईरान तो इसे जानते ही नहीं। उन्हें तो वही सलाम प्रिय होगा जो आज भी इसी

हिंदुस्तान में आदाब अर्ज से कहीं अधिक प्रचलित है और इसलाम का साथी भी है। पर रेडियो का 'अनाउन्सर' सलाम नहीं कहता क्योंकि वह इसलाम का प्रचारक नहीं हिंदुस्तान का भक्त है। वह तो उर्दू हिंदी को छोड़ निरी 'हिंदुस्तानी' में 'आदाब अर्ज' कहता है। उर्दू में क्या कहेगा? यह हम नहीं कह सकते। इसे तो उर्दूपरस्त ही बता सकते हैं। हम तो केवल इतना ही कह देना चाहते हैं कि रेडियो का 'अनाउन्सर कभी नमस्कार नहीं करता' और सदा उस 'आदाब अर्ज' का व्यवहार करता है जिसका मजहब और इसलाम से कोई संबंध नहीं, जिसका अरब और ईरान से भी कोई लगाव नहीं।

'आदाब अर्ज' अरबी है पर अरब इसका अर्थ नहीं जानते। क्यों? बात यह है कि यह उनका शब्द नहीं। यह तो हिंदुस्तान की हिंदुस्तानी (अरबी) का शब्द है। हिंदुस्तानी में जितने शब्द गढ़े जायेंगे सब अरबी के होंगे! अरब उनको भले ही न समझें पर हिंदुस्तानी तो अवश्य ही उन्हें समझेंगे क्योंकि वे उनके आमफहम शब्द जो होंगे? बात भले ही गले के नीचे न उतरे पर मानना आपको यही पड़ेगा—एकता जो चाहिये।

रेडियो का अनाउन्सर सदा 'आदाब अर्ज' क्यों करता है? यह समझ के बाहर की बात नहीं है। श्रीसम्पूर्णानन्दजी कहते हैं कि इसी को वह अपनी संस्कृति का शिष्टाचार समझता है। 'हमारी ज़बान' पहले तो 'संस्कृति को मजहब' की ओर खींच ले जाती है और अपनी दुनिया को यह दिखा देना चाहती है कि कांग्रेसी सम्पूर्णानन्द भी इसलाम से चिढ़ते हैं और फिर उसका ठीक अर्थ 'तमद्दुन' लेती है और एक नई धौंस जमाती है कि इसका रेडियो के मुहकमे के तमद्दुन से कोई संबंध नहीं। ध्यान देने की बात है कि 'हमारी ज़बान' रेडियो के मुहकमे से भली भाँति परिचित है और यह अच्छी तरह जानती भी है कि उसमें कैसे और किस कैंडे के जीव जान-बूझकर भरे गये हैं, तभी तो आगे बढ़कर सफाई देती है कि उसके तमद्दुन से आदाब अर्ज का कोई संबंध नहीं। माना कि बाद में उसने स्पष्ट कह दिया है

कि सरकारी मुहकमों का कोई अलग तमद्दुन नहीं होता पर इससे हमारे अर्थ में कोई गड़बड़ी नहीं होती, बल्कि वह और भी पक्का हो जाता है कि यहाँ भी 'हमारी ज़बान' के सामने रेडियो के मुसलमान हाकिम ही हैं जिनकी वकालत करना वह अपना धर्म समझती है।

श्रीसम्पूर्णानन्द भी तो 'आदाब अर्ज़' को किसी की संस्कृति नहीं समझते, तभी तो कहते हैं कि 'रेडियो का अनाउन्सर कभी नमस्कार नहीं करता, उसकी संस्कृति में आदाब अर्ज करना ही शिष्टाचार है।' बात तो 'शिष्टाचार' की है पर उर्दू के हिमायती दुहाई देते हैं 'मजहब' और 'तमद्दुन' की। रेडियो का अनाउन्सर क्यों नमस्कार का नाम भी नहीं लेता और नित्य आदाब अर्ज की रट लगाता है? कारण यह है कि वह इसी को अपनी 'संस्कृति' का 'शिष्टाचार' समझता है। उसकी संस्कृति है क्या? राष्ट्र के उर्दूपरस्त पुजारी कहते हैं कि हिंदुस्तानी—वह हिंदुस्तानी जिसमें हिंदी का नाम भी नहीं है। आदाब अर्ज में हिंदीपन कहाँ है? यदि हिंदुत्व और हिंदीत्व का विनाश ही हिंदुस्तानी का परम लक्ष्य है तो यह आदाब अर्ज रेडियो को मुबारक हो। हम तो गँवारू बोली में इसे 'आधाबरद' ही समझते हैं। हमें ऐसी आधाबैली हिंदुस्तानी नहीं चाहिए।

हाँ, तो आदाब अर्ज का संबंध न तो अरब से है और न ईरान से, न तो मजहब से है और न इसलामी तमद्दुन से। उसका सीधा लगाव तो उस मुगली दरबार से है जिसकी उपज कल की उर्दू है। उर्दू और आदाब अर्ज को मेलमिलाप की देन समझना सत्य का गला घोटना है। उर्दू बिलगाव के लिये पैदा की गई है, कुछ मेलजोल के लिये अपने आप पैदा नहीं हो गई है। वास्तव में 'आदाब अर्ज' भी इसी उर्दू का चचा है। यह भी आदाब बजा लाने' के लिए ही ईजाद हुआ है। अतएव हमारा कहना है कि रेडियो का अनाउन्सर जिस 'आदाब' को 'अर्ज' करता है वह न तो हमारा है और न हमारे प्रिय हिंदी मुसलिम भाइयों का। तो फिर यह हिंदुस्तान ही में रात-दिन क्यों चिल्लाया जाता है? क्या हिंद का कोई अपना 'अदब' नहीं? क्या यह सदा से मुगलों का गुलाम है?

१२—उर्दू का अभिमान

डाक्टर ताराचन्द राजनीति के पंडित, हिन्दी के प्रतिनिधि, हिन्दुस्तानी के प्रेमी और उर्दू के भक्त हैं। समय समय पर जिस जिस रूप में, जिस जिस मुंह से, जो जो कहते रहते हैं सो सो तो सदा चलता ही रहेगा—मुंह रहते भला उनकी मुंहजोरी को कौन रोक सकता है? परन्तु तो भी कहना तो यही है कि भैया! कुछ पढ़ कर लिखा करो। बचपन मे जो पाठ पढ़ा था वह जीवन का नहीं जीविका का पाठ था। सो उससे अब राष्ट्र का काम नहीं चल सकता। सोचो तो सही ई'खयालस्त ओ मुहालस्त ओ जुनूं' कहां की भाषा है और 'विश्व वाणी' न सही विश्व की वाणी में इसकी गणना कहां की बोली में होगी? आप की बोली यह भले ही हो पर आप के घर वा देश की तो यह बोली नहीं चलते-चलते इस बोली ने तो आप का पता बता दिया कि वस्तुतः आप हो किस खेत की मूली और चाहते क्यों हो उर्दू को राष्ट्र-भाषा। परन्तु नहीं, आपके बहाने हमे राष्ट्र को यह भी तो बता देना है कि वास्तव में आज आप जो ओट रहे हो उसका रहस्य क्या है। लो सुनो, आप ही तो कहते हो—

"अंग्रेजी मे एक कहावत है कि झूठ को बार बार दोहराने से वह सच प्रतीत होने लगता है।"

आप ने तो अंगरेजी के आधार पर प्रतीति की ही बात कही पर यहां संस्कृत मे यह दिखाया गया है कि किस प्रकार चार ठगों ने मिल कर एक ब्राह्मण देवता को ठग लिया और उनके बछवा को बकरा ठहरा दिया। लो. देखो, पढ़ो, गुनो और कहो तो सही कि कुछ ठगों ने मिल कर कहीं आप को भी तो नहीं ठग लिया और आप जैसे न जाने कितने मनीषी प्राणी को अपना पालतू 'सुअना' बना लिया। आप कहते हो—

१—"उर्दू, संस्कृत और हिन्दी की तरह मध्यदेसी भाषा है।"

२—'उसका साहित्य हिन्दी के साहित्य से बहुत पुराना है, ब्रज और अवधी के साहित्य से भी पुराना है।"

३—"उर्दू हिन्दू मुसलमानों के मेल-जोल से बनी है। उसके साहित्य के निर्माण में हिन्दुओं का बड़ा हिस्सा है।"

४—"पन्द्रहवीं सदी से अठरहवीं सदी के अखीर तक उर्दू ही हिन्दू मुसलमान शिष्टों की भाषा थी।"

५—"आज भी उसका हक है कि वह राष्ट्रभाषा यानी हिन्दुस्तान के सभी निवासियों को बिला सम्प्रदायी तफ़ीक के आम भाषा मानी जाए।"

यही न जानते, मानते और चाहते हो? परन्तु सच कहना, यह सीख आप को मिली कहां? किसी मकतब वा पाठशाला में? स्कूल का नाम लेना तो शायद ठीक नहीं। पर देखो उर्दू के विषय में टांक लो कि उर्दू संस्कृत और हिन्दी की भांति मध्यदेश की भाषा नहीं. उर्दू की भाषा, हां, उर्दू की भाषा, हां, उर्दू की भाषा है। उर्दू का अर्थ? लो, पहले 'उर्दू' का प्रयोग देखो फिर उसका अर्थ। मीर अम्मन देहलवी की 'बाग़ोबहार' को ही उठा कर क्यों नहीं देख लेते? उसके दीबाचा में ही कई जगह मिल जायगा 'उर्दू की जबान' का प्रयाग। देखो, मीर अम्मन किस शान से लिखता है—

"हक़ीक़त उर्दू की ज़बान की बुजुर्गों के मुंह से यूं सुनी है।"

"निदान जबान उर्दू की मँजते मँजते ऐसी मँजी कि किसी शहर की बोली उससे टक्कर नहीं खाती।"

अथवा 'उर्दू की बोली' के लिये सैयद इंशा अल्लाह खां की यह ललकार वा फटकार सुनो —

"मुश्फ़िक़ कड़ी कमान को कडरी न बोलिए,
चिल्ला के मुफ़्त तीर मलामत न खाइए।
उर्दू की बोली है यह? भला खाइए क़सम,
इस बात पर अब आप ही मसहफ़ उठाइए।"

बस, जिस 'उर्दू की बोली' में उस्ताद 'मसहफ़ी' भी खरे न उतरे उसे डाक्टर ताराचन्द अपनी 'मादरी ज़बान' समझते रहें पर उर्दू की 'सनद' इस जन्म में तो हासिल नहीं कर सकते, अगले की राम जानें।

'हां, तो 'उर्दू की बोली' का "माख़ज़" यानी स्रोत है शाहजहानाबाद यानी दिल्ली का लाल किला और उसी का नाम है 'उर्दू-ए मुअल्ला' यानी संक्षेप में उर्दू । क्योंकि मुंशी मीर अली अफसोस फरमाते हैं—

"बहुत मैंने यूं इसकी तारीफ़ की,
है उर्दू की बोली का माख़ज़ यही ।"

(आराइशे मोहफ़िल)

अथवा इधर उधर अधिक भटकने से लाभ क्या ? सैयद इंशा ने तो अपनी अद्वितीय पुस्तक 'दरियाए लताफ़त' में खोल कर स्पष्ट लिख ही दिया है—

"ईं मजमा हरजा कि बिरसद औलाद आंहा दिल्लीवाल गुफ्तः शवन्द व महल्लः ईं शां महल्लः अहल देहली । व अगर तमाम शहर रा फ़रा गीरन्द आं शहर रा ईं उर्दू नामन्द । लेकिन जमा शुदन ईं हज़रात दर हेच शहरे सिवाय लखनऊ निज्द फ़कीर साबित नीश्त । गो बाशिन्दगाने मुर्शिदाबाद व अज़ीमाबाद बज़ात .ख़ुद उर्दू दां व शहर .ख़ुद रा उर्दू दानन्द ।"

अस्तु, सैयद इंशा के कहने का सीधा अर्थ यह है कि—यह (शाही) संघ जहां कहीं जाता है, इसकी संतान को 'दिल्लीवाल' और इसके महल्ले को दिल्ली वालों का महल्ला कहते हैं । और यदि इन लोगों ने सारे शहर को घेर लिया तो, उसको उर्दू कहते हैं । किंतु लखनऊ के अतिरिक्त और किसी शहर में उसका बस जाना इस जन की दृष्टि में सिद्ध नहीं होता । कहने को तो मुर्शिदाबाद और अजीमाबाद (पटना) में जाने वाले भी अपने आप को 'उर्दूदां' और अपने शहर को 'उर्दू' कहते हैं ।

'उर्दू' का यह अर्थ कितना सटीक और साधु है इसका पता इसी से चल जाता है कि अभी कुछ दिनों पहले एक स्वर से सभी उर्दू के लोग 'उर्दू' यानी 'उर्दू-ए-मुअल्ला' यानी 'लाल किला' की ज़बान को शाहजहाँ की चीज़ समझते थे । इसका एकमात्र कारण यही था कि उसी ने 'लालकिला' बनवाया और नवाब सदरयार जंगबहादुर के विचार में

तो "ताशकंद और ख़ूकन्द में अब उर्दू क़िला के माने में मुस्तामल है। इसीलिये दिल्ली का क़िला उर्दू-ए-मुअल्ला कहलाया होगा।" (मोक़ालाते उर्दू, मुसलिम युनिवर्सिटी प्रेस, अलीगढ़, सन् १९३४ ई०, पृ० ६७)

अस्तु, उर्दू के विषय में यह तो स्पष्ट हो गया कि उसका वास्तव में मध्य देश से कोई संबंध नहीं और न वह संस्कृत तथा हिंदी की भाँति मध्य देश की भाषा ही है। भूलो मत। नोट करो कि उर्दू वस्तुतः 'उर्दू' यानी शाहजहानाबाद के 'लालकिला' की ज़बान है। और यदि अब भी प्रतीति न हो तो कुछ और भी टाँक लो। देखा, कहते हो—'उसका साहित्य हिंदी के साहित्य से बहुत पुराना है। ब्रज और अवधी के साहित्य से भी पुराना है"। तो लो, सुनो। सुदूर दक्षिण से मौलाना बाकर 'आगाह' की गोहार आ रही है—

'और हिंदुस्तान मुद्दत लग ज़बान हिंदी कि उसे ब्रज भाका बोलते हैं रवाज रखती थी अगरचे लुग़त संस्कृत उनकी अस्ल उसूल और मख़रज फ़नून फ़ोरुअ उसूल है। पीछे मुहावरा ब्रज में अल्फ़ाज़ अरबी व फ़ारसी बतदरीज दाखिल होने लगे सबब से इस आमेज़िस के यह ज़बान रेख़ता से मुसम्मा हुई। जद सनाई व ज़हूरी नज़्म व नस्र फ़ारसी में बानी तर्ज़ जदीद के हुए है वली गुजराती ग़ज़ल रेख़ता की ईजाद में सभों का मुक्तदा और उस्ताद है। बाद उसके जो सख़ुन संजाने हिंद बरोज़ किए ? बेशुब्हा उस नह्ज को उससे लिए। और मिन बाद उसको वासलूब ख़ास मख़सूस कर दिए और उसे उर्दू के भाके से मौसूम किए।" (मदरास में उर्दू, सन् १९३९ ई०, पृ० ४६)

ध्यान दो कि वेलोर (मदरास) से सन् १२११ हि० में मौलाना बाकर क्या कह रहे हैं और आप को 'आगाह' कर किस प्रकार अपने 'आगाह' उपनाम को सार्थक कर रहे हैं। कहते हैं कि पहले हिंदुस्थान में ब्रजभाषा का प्रचार था जिसका कोष, पिंगल, अलंकार आदि संस्कृत पर आश्रित था। पीछे उसमें अरबी और फारसी के शब्दों की भर्ती होने

लगी जिससे उसका नाम रेखता पड़ा, जैसे फारसी के गद्य-पद्य मे सनाई और ज़हूरी नवीन धारा के प्रवर्तक माने जाते हैं वैसे ही वली गुजराती इस नई धारा के। उसके बाद सभी लोगों ने उसका अनुकरण किया और फिर उसको एक ऐसे ढंग पर ढाल लिया कि उसका नाम ही अलग उर्दू की भाषा रख लिया। मौलाना 'आगाह' के कहने का यह जो सारांश दिया गया है उसको देखते ही प्रकट हो जाता है कि सचमुच उर्दू हिंदी पर से ही बनी और वह थी अथवा आज है भी वस्तुतः 'उर्दू' की ही भाषा। हिंदी अपनी परम्परा को छोड़ कर उर्दू की भाषा वा उर्दू बनी तो कोई बात नहीं। उर्दू के लोग शौक से उसे मुंह लगाएं। पर राष्ट्र के लोग तो इसी नाते उसे अपनाने से रहे। किसी पंडितंमानी राष्ट्रबन्धु सुन्दर तारा की हम नहीं कहते। हम तो देशाभिमानी देशी और भाषाभिमानी भाई की कहते हैं।

कहते हो (३) उर्दू हिंदू मुसलमानों के मेल-जोल से बनी है' और कहते हो कि 'उसके साहित्य के निर्माण में हिंदुओं का बड़ा हिस्सा है'। होगा, उस बड़े हिस्से मे आप का कितना है तनिक इसे भी तो बता देते। अथवा किसी 'आबे हयात' में ही खोल कर अपने जैसों की कुछ दिखा देते। अरे! सुनो, देखो और समझो कि यह 'बड़ा हिस्सा' वहां किस दृष्टि से देखा जा रहा है। 'फरहंगे आसफिया' का नाम तो सुना है न? उसीको उठा कर नहीं तो मंगा कर देखो और कहो कि सबब तालीफ़' के इस वाक्य का अर्थ क्या है—

''धुनिए' जुलाहे, तेली, तंबोली, क़सबाती, देहाती जितने खेत के लिखे पढ़े थे सब लठ ले ले के लुग़त निगार फ़रहंग नवीस बन गये। गो देहली या लखनऊ को आंख खोल कर न देखा हो मगर हमारे पहले एडीशन ने लाला भाइयों से लेकर दीगर क़ल्म क़साइयों तक को मोवल्लिफ मुसन्निफ़ बना दिया" (जिल्द अव्वल पृ० ०८)

'धुनिए, जुलाहे' को तो जाने दीजिए क्योंकि वे 'मोमिन मुसलमान हैं और हैं भी इस देश में मुसलमानों में आधे से अधिक। परंतु 'लाला भाइयों' और 'दीगर कल्म कसाइयों' को न भूलिए। कारण कि

उनके विषय में उर्दू के इमाम डाक्टर मौलवी अब्दुल हक का कहना है–

"उस वक़्त के किसी हिंदू मुसन्निफ़ की किताब को उठा कर देखिए। वही तर्ज़ तहरीर और वही असलूबे बयान है। इब्तदा में बिस्मिल्लाह लिखता है। हम्द व नात व मनकबत से शुरू करता है। शरई इस्तेलाहात तो क्या, हदीस व नस क़ुरान तक बेतकल्लुफ़ लिख जाता है। इन किताबों के मुताला से किसी तरह मालूम नहीं हो सकता कि यह किसी मुसलमान की लिखी हुई नहीं," (उर्दू रिसाला, अंजुमने तरक्क़ीए उर्दू, देहली. सन् १९३३ ई०, पृ० १४)

कहो तो सही मामला क्या है? यह हिंदू-मुसलिम मेल-जोल है वा हिंदुत्व का विनाश? क्या इसी को देखने के लिये पानी पी पी कर हिंद को सराप रहे हो और इधर उधर की बात सुना हिंदुस्तान को शिष्य मूँडना चाहते हो? यदि नहीं, तो माजरा क्या है? अरे! कुछ तो समझ-बूझ, देख-सुन कर लिखो। हिंदी और संस्कृत को पढ़ो, गुनो और फिर कहो कि पीड़ा क्या है और हिंदू-मुसलिम का मिला-जुला रूप क्या है। उर्दू? फिर वही बात? अच्छा सिद्ध कर तो दिखाओ देखें कितने पानी मे हो। अथवा व्यर्थ ही पानी पीट अपना पानी गंवा रहे हो।

कहते और बड़े तपाक से कहते हो कि (४) 'पन्द्रहवीं सदी से अठरहवीं सदी के अखीर तक उर्दू ही हिंदू-मुसलमान शिष्टों की भाषा थी। कहा और कह ही तो दिया, पर देखा इतना भी नहीं कि दुनिया, हिंद की मुसलमानी दुनिया भी इसके विषय में क्या कहती है। सुनो। मुहम्मदशाह 'रंगीला' का दरबार लगा है और कोई 'सुजान' गा रही है 'सुजान' —

"किताबमणि कुरान दीनमणि कलमा अबदनमणि
आदम कामन हवा रागनमणि भैरो भाषामणि
ब्रज की जोतमणि दीपक दीपकमणि नार दोजक
शीतल मलो भिहिस्त एसी भात सुजान अस्तुति कीनी।"

(संगीत रागकल्पद्रुम द्वितीय भाग पृ० २६४)

किंतु आप तो फारसी के जीव ठहरे। अतः लीजिये फारसी को, और देखिए भी इसे फारसी के ही चश्मे से। देखा ? कट्टर आलमगीर औरंगजेब के शासन में उसके परम प्रिय पुत्र अथवा जिस किसी के लिये लिखा जा रहा है 'व्रजभाषा' का व्याकरण' और उसमे बताया जा रहा है—

"व ज़बान अहल बृज अफ़सह ज़बानहा अस्त आंचि मियान दोआब गंगा व जमुना कि दो रूद मशहूर अंद वाकाशुदः अस्त, मिस्ल चन्दवार वगैरहः व फसाहत मंसूब अस्त। व चन्दवार नाम मौज़ाअ्-अस्त मारूफ व मशहूर। व चूं ईं ज़बान शामिल अशआर रंगान व इबारत शीरीं व वस्फ़ आशिक व माशूक़ अस्त, व बरज़बान अहल नज़्म व साहब तबा वेश्तर मुस्तामल व जारी अस्त। विनाबरॉ वकवा-यद कुल्लियः आं परदाख़्तःआमद।" (ए ग्रामर आव व्रजभाषा, विश्वभारती बुकशाप, कलकत्ता, १९३५ ई०, पृ० ५४-५)

अपनी भाषा में मीरज़ा खां के कहने का अर्थ है कि

"व्रजभाषियों की भाषा सभी भाषाओं में श्रेष्ठ है। गंगा और यमुना के बीच में जो देश है, जैसे चन्दवार आदि, वह भी शिष्ट गिना जाता है। चन्दवार एक प्रतिष्ठित और प्रसिद्ध स्थान है। चूंकि इसी भाषा में प्रिय-प्रिया की प्रशंसा और सरस एवं अलंकृत कविता है तथा यही भाषा शिष्टों और काव्य की व्यापक भाषा है इसलिये इसके व्याकरण की रचना की जाती है।"

देखा ? क्या दिखाई दिया ? यही न कि व्रजभाषा ही शिष्ट, समृद्ध तथा व्यापक काव्य भाषा है और उसी मे कोई 'मीरजा' भी अपना मुंह खोल लोगों के जी में पैठते हैं ? अरे ! यह वह समय है जब औरंगजेब सा कट्टर गाजी भी 'सुधारस' और 'रसना विलास' का भक्त है किसी अरबी का कदापि नहीं. विशेष जानकारी के लिए पढ़िये इस जन की 'मुग़ल बादशाहो की हिंदी' को।

संभव है क्या, निश्चित ही है कि आपने 'मीरजा खां' के उक्त व्याकरण को नहीं पढ़ा और नहीं पढ़ा किसी ऐसे ग्रंथ को जिसमें उर्दू की

हकीकत खोल कर बताई गई हो। तो भी आपने 'खान आरजू' का नाम तो अवश्य सुना होगा। कारण यह कि हिंदुस्थान के फारसीदानों में, तीन में वह भी एक हैं और हैं उर्दू के उस्ताद भी। सुना? उनकी उर्दूधारणा को देखकर श्री हाफिज महमूद शेरानी साहब भी दंग रह जाते और आपको बताने के लिये ही मानों लिखे जाते हैं—

"सब से ज्यादा जिस बात से ताज्जुब होता है यह है कि खान देहली की जबान और उर्दू को भी वक़अत की निगाह से नहीं देखते। उनके नजदीक हिंदुस्तानी ज़बानों में सब से ज्यादा शाइस्ता और मुहज्ज़ब जबान ग्वालियारी है।" (ओरियंटल कालेज मैगज़ीन, लाहौर, नवम्बर सन् १९३१ ई०, पृ० १०)

कहने की बात नहीं कि खान आरजू को ग्वालियारी व्रजभाषा से भिन्न नहीं। प्रसंगवश इतना और जान लें कि खान आरजू का निधन सन् ११६९ हि० में हुआ और इसी सन् में उर्दू के आदि उस्ताद मियाँ हातिम ने अपने 'दीवानज़ादा' के 'दीबाचा' में स्पष्ट लिखा—

"दरीं विला अज़दह दवाज़दह साल अक्सर अल्फ़ाज़ रा अज़ नज़र अन्दाख्त: लिसाने अरबी व ज़बाने फ़ारसी कि करीबुल फ़हम व कसीरुल इस्तैमाल बाशद व रोज़मर्र: देहली कि मिर्ज़ायाने हिंद व फ़सीहाने रिन्द दर मुहावर: दारन्द मंजूर दाश्त:।" (सौदा, अंजुमनए तरक्कीए उर्दू, देहली, १९३९ ई०, पृ० २९ पर अवतरित)

शाह हातिम का स्पष्ट कहना है कि इस काल में ग्यारह बारह वर्ष तक बहुत से शब्दों को त्याग कर अरबी व फारसी के शब्द जो सुगमता से समझ में आते हैं और प्रयोग में अधिक आते हैं और दिल्ली के रोजमर्रा को कि हिंद के मिर्ज़ाओं (मुगल राजकुमारों) और फसीह सूफियों के व्यवहार में रहे हैं मंजूर किया गया है।

शाह हातिम ने वहीं अपने आप ही यह भी खोल कर कह दिया है—"सिवाय आं ज़बाने हर दयार ता ब हिंदवी कि आं रा भाका गोयन्द मौकूफ करद:।" (वही)

अर्थात् इसके अतिरिक्त चारों ओर की भाषा यहां तक कि हिंदवी को जिसे भाका कहते हैं छोड़ दिया।

डाक्टर ताराचन्द क्या कहते हैं इसे कौन कहे; पंरतु उनकी दशा ठीक वही है कि डाक्टर कहता है—रोगी मर गया, और रोगी कहता है—मैं जीवित हूं। अब आप ही कहें सच्चा कौन है? रोगी या डाक्टर? देखिये तो सही, हातिम स्वयं कहते हैं कि हमने अड़ोस-पड़ोस की भाषा यहां तक कि हिंदी को भी छोड़ दिया और ग्रहण किया 'मिर्ज़ायाने हिंद व फसीहाने 'रिंद' अर्थात् 'उर्दू की बोली' को और उसमे ला दिया अरबी-फारसी के मुहावरों को, और इधर हमारे डाक्टर ताराचन्द न जाने किस डाक्टरी के जोम मे और न जाने किस विद्या और न जाने किस बूते पर दोष देते हैं हिंदी को। गाल बजाने और कलम चलाने से उन्हें मुग्धों मे प्रतिष्ठा और यारों में दाद मिल सकती पर किसी शिष्ट और सभ्य समाज मे उनका सत्कार नहीं हो सकता। कारण, वस्तुत. ऐसे ही वे जीव हैं जो न जाने कितने दिनों से इस राष्ट्र में विनाश का वीज बो रहे हैं और जानते इतना भी नहीं कि उर्दू उसी बीज की पौध है। लो, यहीं उर्दू की उस दिव्य लीला को भी देख लो जो हातिम के कथनानुसार ११-१२ वर्ष से चल रही थी। सुनो, अदीबुल मुल्क नव्वाब सैयद नसीर हुसैन खां साहब फरमाते हैं। सुनो, जिन्होंने उर्दू की अनसुनी हो जाने पर लखनऊ के 'हिंदू मुसलिम-पैक्ट' की सदस्यता को तलाक दे दिया था उनका कहना है किसी 'सभाई' या' 'फोर्टविलियम कालेज' का नहीं। हाँ, कहते हैं—

"उमदतुलमुल्क ने, और उमरा के मशविरः से, देहली मे एक उर्दू 'अंजुमन' कायम की। उसके जलसे होते, जबान के मसयले छिड़ते, चीजो के उर्दू नाम रक्खे जाते, लफ्जों और मुहावरो पर वहसें होतीं, और वड़े रगड़ों झगड़ो और छानवीन के वाद अंजुमन' के दफ्तर में वह तहक़ीक़शुदा अल्फाज व महारात क़लमबन्द हो कर महफ़ूज किए जाते; और बकौल 'सियरुल मुताख़रीन' इनकी नकलें हिंद के उमरा व रूसा पास भेज दी जातीं और वह उसकी तकलीद को फख़ जानते और अपनी अपनी जगह उन लफ्जों को फैलाते।" (मुगल और उर्दू एम० ए०, उसमानी एंड संस, फियर्सलेन कलकत्ता, १९३३ ई० पृ० ६०)

बिहार की हिंदुस्तानी कमेटी, नहीं नहीं, बिहार के सिर मढ़ी गई हिंदुस्तान की हिंदुस्तानी कमेटी के आप भी एक मेम्बर हो इसलिये इस अंजुमन के 'बड़े रगड़ों झगड़ों' को खूब समझ सकते हो, अगर समझना और समझ से काम लेना चाहो तो; नहीं तो 'ज्ञानलवदुर्विदग्ध' से तो ब्रह्मा भी हार मान चुके हैं फिर किसी 'चन्द्र' की बिसात ही क्या? सो भी किसी 'चंद' को समझाने की?

अच्छा, तो देखो कि सन् ११६९ हि० में जो ११-१२ वर्ष से कोशिश हो रही थी सो क्या थी। यही 'उर्दू अंजुमन' की कोशिश न? तो ११६९ में से ११ व १२ को निकाल दो और कहो, खुल कर तुरत कहो कि सन् ११५७—५८ हिजरी में 'उमदतुलमल्क ने और उमरा के मशविरः से' दिल्ली में उर्दू को जन्म दिया। घबड़ाओ नहीं, देखो, सुनो और जानो कि नव्वाब सआदत अली खां के दरबार लखनऊ में सन् १२२३ हि० में सैयद 'इंशा' जैसा भाषाशास्त्री ने किस सचाई से लिख दिया -

"खुशबयानान आंजा मुत्तफ़िक़ शुदः अज़ ज़बानहाय मुत्ताद्दिद अल्फ़ाज़ दिलचस्प जुदा नमूदः व दर बाजे, इबारत व अल्फ़ाज़ तसर्रुफ़ बकार बुर्दः ज़बाने ताज़ः सिवाय ज़बानहाय दीगर बहम रसानीदंद व उर्दू मौसूम साख़तन्द।" (दरियाए लताफ़त, वही, पृ० २)

इसी का आप ही के साथी अल्लामा दत्तातिरिया 'कैफ़ी' का किया हुआ, उर्दू अनुवाद, नही नहीं, तरजमा है—

'यहां से खुशबयानों ने मुत्तफ़िक़ होकर मुताद्दिद ज़बानों से अच्छे अच्छे लफ्ज निकाले और बाजे इबारतों और अल्फ़ाज़ में तसर्रुफ कर के और ज़बानों से अलग एक नई ज़बान पैदा की जिसका नाम उर्दू रक्खा,' (दरियाए लताफ़त, अंजुमनए तरक़्क़ीए उर्दू, १९३५ ई० पृ० २)

'और ज़बानों से अलग एक नई ज़बान पैदा की जिसका नाम उर्दू रक्खा', उर्दू क्यों रक्खा, कारण स्पष्ट है। वह उर्दू की भाषा जो थी।

'खुशबयानों' के विषय में सैयद इंशा ने जो कुछ लिखा है उसे पढ़ो तो पता चले कि हिंदू तो क्या, हिंदी मुसलमान तो क्या, बारहा

के सैयद भी खुशबयान' नहीं गिने गये। कारण यही कि वे 'हिंदुस्तानी दल' के साथ थे और 'तूरानी दल' से बराबर लोहा लेते थे। 'खुशबयानों' के बारे में संक्षेप में जान लें कि—

' यह लोग तुर्कीउन्नस्ल थे या फारसीउन्नस्ल या अरबीउन्नस्ल, यह हिंदी की मुताबकत किस तरह कर सकते थे ?"

(फरहंगे आसफिया, मोकद्दमा)

अब आप ही कहो, और सच कहो, दिल पर हाथ रख कर कहो, और मुंह खोल कर कहो, सचमुच सच कहो कि बात क्या है। कहते हो, फिर भी कहते हो—

(५) "आज भी उसका हक है कि वह राष्ट्रभाषा यानी हिंदुस्तान के सभी निवासियों की बिला सम्प्रदायी तफ्रीक के आम भाषा मानी जाए।"

कहो। किस मुँह से, और किससे क्या बोल रहे हो ? उधर से तो खम ठोंक कर डंके की चोट पर कहा जा रहा है—

"हम अपनी ज़बान को मरहठीबाज़ों लावनीबाज़ों की ज़बान, धोबियों की खंड, जाहिल ख़यालबन्दों के ख़याल, टेसू के राग यानी बेसर व पा अल्फ़ाज़ का मजमूआ बनाना कभी नहीं चाहते और न उस आजदान: उर्दू को ही पंसद करते हैं जो हिंदुस्तान के ईसाइयों, नवमुसलिम भाइयों, ताज: विलायत साहब लोगो खानसामाओं, ख़िदमतगारों, पूरब के मनहियों कैम्प ब्वायों और छावनियों के सतबेझड़े वाशिन्दों ने एख्तयार कर रक्खी है। हमारे ज़रीफुल तबा दोस्तों ने मज़ाक़ से इसका नाम पुड्डू रख दिया।" (फ़रहंगे आसफ़िया, सबब तालीफ़)

काफिर हिंदुओं को पूछता ही कौन है ? अरे ! किताबी ईसाइयों और इसलामी 'नवमुसलिम भाइयों' तक की भी कभी हिंदू होने के नाते उर्दू में यह गत बनी ! हम डाक्टर ताराचंद और उन जैसे विचार, नहीं नहीं 'धुनधारा' वाले प्राणी से कुछ नहीं कहना चाहते क्योंकि हम भली भांति जानते हैं कि बांस पर चन्दन का प्रभाव नहीं पड़ता और कुत्ते की दुम

कभी सीधी नहीं होती। पर हिंदी ईसाइयों और हिंदी नवमुसलिम भाइयों से इतना अवश्य कहना चाहते हैं कि यदि कुछ भी तुम्हें अपनी तथा अपने देश की लाज है तो अपनी हिंदी को अवश्य अपनाओ और उस उर्दू को दूर से नमस्कार करो जो सन् ११५७ व ५८ हि० (सन् १७४४-५ ई०) में बिलगाव और इस देश के अपमान के लिये ईरानी-तूरानी किंवा परदेशी मुसलमानों द्वारा गढ़ी गई और जो आज भी हमारी भूल के कारण हम पर हावी हो हमारी छाती पर मूंग दल रही है, और देशी मुसलमानों का भी घोर अपमान कर रही है। है डाक्टर ताराचंद को इसकी खबर? 'या बढ़े ऑंधेरो होय' को ही चरितार्थ कर रहे हैं?

१३—राष्ट्रभाषा व संमेलन

[श्री मो० सत्यनारायण]

हमारी राष्ट्रभाषा का नाम हिंदी होना चाहिये या हिंदुस्तानी, इस प्रश्न को लकर आये दिन बड़ा वाद-विवाद होता आ रहा है। १९३८ में जब पूज्य महात्माजी ने हिंदी को राष्ट्र-भाषा माना और उसके प्रचार के लिए नींव डाली तब हिंदी व हिंदुस्तानी का आपस में कोई झगड़ा नहीं था। उस समय में हिंदुस्तानी शब्द था और उससे भी हिंदी का ही अर्थ निकलता था। दक्षिण भारत में गत २४ सालों में हिंदी का जो प्रचार हुआ है इस प्रचार में स्पष्ट कहा गया है कि हिंदी से मतलब उस भाषा से है जिसे उत्तर के सभी वर्ग के लोग समझते व बोलते हैं और जो नागरी और फ़ारसी लिपि में लिखी जाती है। जब वह फ़ारसी में लिखी जाती है तो उर्दू[1] कहलाती है और नागरी में लिखी

१—यदि वस्तु-स्थिति यही रही है तो दक्षिण भारत में भ्रम का प्रचार किया गया है, कोई हिंदी फारसी लिपि में लिखी जाने के कारण ही उर्दू नहीं कहलाती। हिंदी के अनेक मुसलमान कवियों ने 'भाखा' (भाषा) को भी

जाती है तो हिंदी कहलाती है। चूँकि नागरी वर्णमाला दक्षिण के लोगों को सुलभ थी, इसलिए दक्षिण-भारत-हिंदी-प्रचार सभा ने अधिकाधिक नागरी से ही काम लिया है। जहाँ तक शैली व शब्दावली का सवाल है सभा ने दोनों को प्रचारित करने की कोशिश की। चूँकि सभा का मुख्य उद्देश्य बोलचाल की भाषा का प्रचार करना था इसीलिए संस्कृत व साहित्य संबंधी कोई खास प्रश्न उसके सामने नहीं आया। फलतः आज दक्षिण भारत मे जिस[२] हिंदी का प्रचार हो रहा है वह इस लायक है कि उससे पंजाब और युक्त प्रांत में भी काम चल सके और बिहार और सी० पी० में भी। सभा ने और दक्षिण के राष्ट्रभाषा-प्रेमियो ने राष्ट्रभाषा के सच्चे स्वरूप और उसकी उपयोगिता को अपनी आँखो से ओझल नहीं होने दिया है।

राष्ट्रभाषा का एक मात्र उद्देश्य राष्ट्र-संगठन है, प्रांतो को एक दूसरे से जोड़ना है, सभी वर्गों के लोगों को मिलाना है, राष्ट्रीय जीवन से सांप्रदायिकता को हटाना है राष्ट्रीय संस्कृति और साहित्य का निर्माण करना है। राष्ट्रीय जीवन मे हिंदू आयेंगे, मुसलमान भी आयेंगे, पारसी आयेंगे और ईसाई भी। वह किसी एक खास धर्मावलंबी व संप्रदाय-वादी की ही बपौती नहीं रह सकता है। इसलिए राष्ट्रभाषा के विकास में भी सभी धर्मों और सभी संप्रदायों का हाथ रहेगा। वह उस हद

फारसी लिपि में लिखा है पर उसे कभी भूल कर भी उर्दू नही कहा है। हाँ, हिंदी, हिंदवी वा हिंदुई अवश्य कहा है। भाषा और लिपि का संबंध शरीर और आच्छादन का है। आच्छादन के कारण नाम नहीं बदलता, हाँ, देखने-वाले को कभी-कभी भ्रम अवश्य हो जाता है। हमें भाषा और लिपि के प्रश्न पर अलग अलग विचार करना चाहिए। अबोहर अधिवेशन ने बहुत कुछ यही किया है।

२—यदि प्रस्तुत लेख उसी हिंदी में लिखा गया है तो उससे हमारा कोई विरोध नहीं। हम उसे राष्ट्रभाषा मानने को सहर्ष तैयार हैं। पर दक्षिण भारत को इस बात का पता होना चाहिए कि वह हिंदुस्तानी नहीं जिसे फारसी लिपि में लिख देने से यार लोग उसे उर्दू समझ लें।

तक हमेशा अपूर्ण रहेगा जिस हद तक किसी संप्रदाय[3] ने उसका बहिष्कार किया हो अथवा किसी संप्रदाय ने उसे क़ैद कर रखा हो। इसलिए कोशिश यह होनी चाहिए कि राष्ट्रभाषा सभी की हो, सभी उसके हों।

गत २५ वर्षों में राष्ट्रभाषा-प्रचार का कार्य हिंदी साहित्य-संमेलन के सुपुर्द रहा। महात्मा गांधी का, जो भारत के राष्ट्रीय युग के प्रथम व प्रधान प्रवर्तक हैं, सहयोग उक्त संमेलन को प्राप्त होता रहा। उनके सहयोग से संमेलन के कार्य पार लग गये। आज वह हिंदुस्तान में एक व्यापक संस्था हो गई है। स्वयं गांधीजी भी दो बार—१९१८ में एक बार, और १९३५ में दूसरी बार—इंदौर में उसके अध्यक्ष रह चुके हैं। उन्होंने अपने तन-मन से संमेलन में जीवन-संचार तो कराया ही, साथ ही उसे भरपूर धन भी दिलाया। अगर महात्माजी का सहयोग संमेलन को प्राप्त नहीं होता तो संमेलन के कार्य का क्या रूप होता, इसकी कल्पना करना आसान है। साहित्य-संमेलन का यद्यपि प्रधान कार्य साहित्य-निर्माण का था फिर भी प्रचार कार्य ने उससे ज्यादा महत्त्व पाया। उसकी साहित्यिक प्रवृत्तियाँ भाषा के प्रचार की तुलना में बहुत ही कम रहीं। इस सारे प्रचार के कार्य को महात्माजी ने और उनके अनुयायियों ने बढ़ाया है। दक्षिण-भारत-हिंदी-प्रचार सभा की नींव संमेलन के द्वारा महात्माजी ने डलवाई और तब से लेकर अब तक इस सभा के वे पोषक और जीवन-संचारक रहे हैं। राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति, वर्धा की नींव उन्हीं के प्रताप के बल पर पड़ी थी। आज यह समिति भी बड़े पैमाने पर अपने संगठन का निर्माण कर चुकी है। राष्ट्रभाषा का कार्य आखिर अहिंदी प्रांतों में करना है। दक्षिण के चार—आन्ध्र, कर्नाटक, तमिल और केरल प्रांत; पश्चिम के चार—सिंध, महाराष्ट्र, बंबई और गुजरात, और पूर्व के तीन—असम, बंगाल और उड़ीसा—कुल ये ग्यारह प्रांत राष्ट्रभाषा के प्रचार के क्षेत्र समझे जाते हैं।

३—किसी सम्प्रदाय-विशेष के बहिष्कार से उसकी अपूर्णता सिद्ध नहीं होती। हाँ, अंग-विशेष के अभाव में ऐसा माना जा सकता है।

इन प्रांतों के प्रचार के कार्य को महात्माजी का नेतृत्व प्राप्त है। उनके रहते कोई उनसे बढ़कर इस कार्य का नेतृत्व कर भी नही सकता और करे भी तो वह सर्वमान्य भी नहीं हो सकता। सम्मेलन के अधिकारियों को भी यह बात अच्छी तरह मालूम है।

गत दिसंबर में पंजाब प्रांत के अबोहर में सम्मेलन का जो अधिवेशन हुआ उसमें सम्मेलन ने एक प्रस्ताव में भाषा संबंधी अपनी नीति का स्पष्टीकरण किया है। उस प्रस्ताव के कुछ अंश यों हैं—

"वास्तव मे उर्दू भी हिंदी से उत्पन्न अरबी फारसी मिश्रित एक रूप है। हिंदी शब्द के भीतर ऐतिहासिक दृष्टि से उर्दू का समावेश है। किंतु उर्दू की साहित्यिक शैली जो थोड़े से आदमियों में सीमित है— हिंदी से इस समय इतनी विभिन्न हो गई है कि उसकी पृथक् स्थिति सम्मेलन स्वीकार करता है और हिंदी की शैली से उसे भिन्न मानता है।

'हिंदुस्तानी या हिंदुस्थानी शब्द का प्रयोग मुख्यतः इसी लिये हुआ करता है कि वह देशी शब्द व्यवहार से प्रभावित हिंदी शैली तथा अरबी फारसी शैली व्यवहार से प्रभावित उर्दू शैली दोनों का एक शब्द से, एक समय मे निर्देश करे। कांग्रेस, हिंदुस्तानी एकाडमी और कुछ गवर्मेंट विभागों में इसी अर्थ में इसका प्रयोग हुआ है और होता है। कुछ लोग इस शब्द का प्रयोग उस प्रकार की भाषा के लिए भी करते हैं जिसमें हिंदी और उर्दू शैलियों का भी मिश्रण हो।"

आगे चल कर प्रस्ताव में यो लिखा है—"इन निश्चित अर्थों में उर्दू और हिंदुस्तानी शब्दों का प्रचलन है। इस विषय मे सम्मेलन का कोई विरोध नहीं है। किंतु सम्मेलन साहित्यिक और राष्ट्रीय दोनो दृष्टियों से अपनी समितियों के काम में हिंदी का और उसके लिए हिंदी शब्द का व्यवहार प्रचलित करता है।"—

सम्मेलन ने राष्ट्रभाषा के लिए हिंदी शब्द के प्रयोग व प्रचार में निष्ठा और दृढ़ता से संलग्न होने की भी देश-भक्तों से अपील की है।

इस प्रस्ताव से साफ जाहिर[४] होता है कि आगे सम्मेलन से सम्बन्ध

४—हमारी दृष्टि में 'सम्मेलन' का आशय यह नहीं है। 'सम्मेलन'

रखने वाला कोई भी व्यक्ति व संस्था हिंदुस्तानी शब्द का प्रयोग नहीं कर सकती, न उर्दू शैली व फारसी[५] लिपि से ही उसका कोई ताल्लुक़ रह सकता है। सम्मेलन ने यह काम दूसरों का मानकर अपना दरवाजा उसके लिये बन्द कर लिया है।

आखिर कोई गैर हिंदी प्रान्तवासी हिंदी क्यों सीखे ? वह हिंदी इसीलिये सीखता है कि वह राष्ट्रभाषा है। राष्ट्र ने एक कंठ से हिंदी को राष्ट्रभाषा माना है। उसे सीखकर अपने देश के सभी प्रांतवासियों से वह मिल सकता है और बात कर सकता है। गैर-हिंदी[६] प्रांतवासी की राष्ट्रभाषा में न तो जाति-भेद है, न भाषा-भेद और न है वर्ग भेद। धर्म उसके लिये गौण है। आचार-विचार उसके लिये अप्रधान है

अपनी सीमा के भीतर 'हिंदी' को ही अपनाता है और घोषित करता है कि उसके क्षेत्र में हिंदुस्तानी नहीं हिंदी ही का शासन है। अन्य क्षेत्रों में कोई भी व्यक्ति अथवा संस्था 'हिंदुस्तानी' का व्यवहार कर सकती है। कांग्रेस ने हिंदू सभा को साम्प्रदायिक कह दिया है पर हिंदू शब्द को नहीं। सम्मेलन 'हिंदुस्तानी' का प्रयोग कुछ निश्चित अर्थों में मानता है पर उसे हिंदी का पर्याय नहीं मानता। उसकी दृष्टि में हिंदी तो भाषा है और हिंदुस्तानी उसकी, चाहे कैसी भी हो, शैली मात्र। भाषा और शैली को पर्याय मानना दुराग्रह और अविवेक है, शास्त्र और सत्याग्रह कदापि नहीं।

५—हमारी समझ में हिंदी भाषा का प्रचार फारसी लिपि क्या किसी भी लिपि के द्वारा किया जा सकता है पर सम्मेलन को नागरी लिपि का प्रचार ही इष्ट है। सम्मेलन उर्दू को हिंदी की फारसी वा परदेशी शैली मानता है पर उसे राष्ट्रीय शैली नहीं मानता। क्या महात्मा गान्धी उसी को राष्ट्रीय मानते हैं ! यदि हाँ, तो उसकी राष्ट्रीयता के कारण अथवा मुसल्मानी भावना या मेल-जोल की रक्षा के हेतु ? सत्य के कारण अथवा नीतिवश ?

६—हिंदी प्रांतवासी की हिंदी भाषा में भी कोई भेद नहीं है, यदि भेद है तो उसी, उसी उर्दू में जिसे भूल के कारण लोग फारसी लिपि में लिखी हिंदुस्तानी मानो हिंदी समझते हैं। सैयद इंशा ने 'दरियाए-लताफ़त' में इस भेद-भाव का पूरा विवरण दिया है। राष्ट्रभक्तों को उसका अध्ययन करना चाहिए।

अगर हिंदी सीखने से उसकी राष्ट्रीय भावना पूरी नहीं हुई, वह सभी प्रांतवासियों के नजदीक नहीं आ सका तो हिंदी से उसका कोई प्रयोजन नहीं। उसे किसी संस्था, व्यक्ति या विचार-धारा से मतलब नहीं। उसका मतलब अपने ध्येय से है, इस ध्येय से न वह बहक सकता है न वहकाया जा सकता है। अगर कोई समझे कि गैर-हिंदी प्रांतवासी हिंदी की सुन्दरता, व्यापकता और साहित्यिक लोच से मोहित है, इसलिये उसके पीछे पड़ा है, तो इस कथन में पूर्ण-सत्य नहीं अर्ध-सत्य ही है। अगर वह आकर्षित है, तो अपने ध्येय की सुन्दरता और महत्त्वपूर्णता की तरफ। इसलिए सिर्फ हिंदी[७] शब्द को लेकर वह अपने ध्येय की तरफ नहीं बढ़ सकता हो तो शब्द का वह मोह नहीं रखेगा। अपने आदर्श तक पहुँचने के लिये वह अपने साधनों को पूर्ण बनाने का यत्न करेगा और अपना रास्ता साफ करेगा। सम्मेलन का प्रस्ताव आज कहता है कि

हिंदुस्तानी शब्द का प्रयोग मुख्यतः इसलिए हुआ करता है कि वह देशी शब्दों द्वारा प्रभावित हिंदी शैली तथा अरबी-फारसी शब्दों से प्रभावित उर्दू शैली, दोनों का एक शब्द से एक समय निर्देश करे। कांग्रेस, हिंदुस्तानी एकाडमी और कुछ गवर्मेंट विभागों में इसी अर्थ में उसका प्रयोग हुआ है और होता भी है। कुछ लोग इस शब्द का प्रयोग उस प्रकार की भाषा के लिए भी करते हैं जिसमें हिंदी-उर्दू शैलियों का मिश्रण है। किंतु सम्मेलन ने अपने २४वें अधिवेशन में एक प्रस्ताव पास किया था जिसमें हिंदी के फारसी लिपि में लिखे जाने की स्थिति को मान्यता दी थी और अपने २९ वें अधिवेशन में पूना में, १९४० में उसी प्रस्ताव को थोड़ा सा परिवर्तित कर यों पास किया था—

"इस सम्मेलन को मालूम हुआ है कि राष्ट्रभाषा के स्वरूप के

७—जानकारों से यह बात छिपी नहीं है कि सचमुच हिंदी शब्द ही राष्ट्रीयता का द्योतक है, 'हिंदुस्तानी' शब्द साम्प्रदायिक और उर्दू संकीर्ण है। कोई भी सच्चा राष्ट्र-प्रेमी, जो उर्दू के इतिहास से अभिज्ञ है, उसके संकेत को राष्ट्रभाषा के लिए सह नहीं सकता, उसका नाम लेना तो दूर रहा।

सम्बन्ध में हिंदुस्तान के भिन्न भिन्न प्रांतों में कुछ गलतफहमी फैली हुई है। लोग उसके लिये अलग अलग राय रखते हैं। इसलिए यह सम्मेलन घोषित करता है कि राष्ट्रभाषा की दृष्टि से वह हिंदी-स्वरूप मान्य समझा जाय जिसका हिंदू, मुसलमान आदि सब धर्मों के ग्रामीण और नागरिक व्यवहार करते हैं; जिसमें रूढ़, सर्व-सुलभ अरबी फारसी अँगरेजी या संस्कृत शब्दों या मुहावरों का बहिष्कार नहीं होता और जो साधारण रीति से राष्ट्रलिपि नागरी में तथा कहीं कहीं फारसी में लिखा जाता है।"

१९३५ में इन्दौर सम्मेलन में जो पहली व्याख्या हुई थी यह उसका शाब्दिक परिवर्तित रूप है। भाषा के नाम के बारे में व्याख्या अब अबोहर अधिवेशन में हो गई है। इन दोनों को साथ मिलाकर कोई राष्ट्रप्रेमी पढ़े तो तुरन्त यही कहेगा कि हमारी राष्ट्रभाषा का नाम[८] हिंदुस्तानी हो और उसका स्वरूप सरल, सुलभ और आमफहम हो। सम्मेलन ने तो इस तरह कहने के लिए हमारा रास्ता बन्द ही कर दिया है। यह नीति सम्मेलन की साहित्यिक प्रगति के लिए भले ही लाभदायक हो लेकिन राष्ट्रभाषा-प्रचार की प्रगति के लिए बहुत ही विघातक है। क्योंकि जब सम्मेलन स्वयं मानता और देखता भी है

८—यदि इस प्रस्ताव का सीधा यही अर्थ होता तो नागपुर तथा स्वयं मद्रास के अधिवेशन में 'हिंदी-हिंदुस्तानी' या 'हिंदी यानी हिंदुस्तानी' की धूम नहीं रहती। ध्यान देने की बात यहाँ यह है कि स्वयं महात्मा गान्धी ने भी इसी कारण नागपुर में केवल 'हिंदुस्तानी' शब्द का ग्रहण नहीं किया और 'हिंदी-हिंदुस्तानी' का ऐसा जाल बिछाया कि हिंदी चौपट हो गई और उर्दू की बन आई। कहना न होगा कि हिंदी-उर्दू-संघर्ष का यह नया सूत्रपात महात्मा गान्धी के श्रीमुख से नागपुर में ही हुआ और यहीं से मौलवी अब्दुलहक हिंदी के विनाश के लिए उठ खड़े हुए। इन्दौर में महात्मा गान्धी ने जिन्हें मांझने का प्रयत्न किया था उन्हीं ने उनकी धज्जियाँ उड़ाईं और उन्हें उर्दू का शिकार बनाया।

कि हिंदी नागरी लिपि और फारसी लिपि मे लिखी व पढ़ी जाती है तो राष्ट्रभाषा-प्रेमियो को क्यों बंधन में डालें ?

हिंदी को संस्कृत-प्रचुर बनाने में एक तर्क यह पेश किया जाता है कि हिंदी का प्रगतिशील स्वरूप भारत की अन्य प्रांतीय भाषाओ से निकट सम्बंध रखे। क्योंकि भारत की सभी प्रांतीय भाषाएँ संस्कृत-प्रचुर हैं। उनका प्रगति-सूचकता भी संस्कृत से ही तअल्लुक रखती है। अगर हिंदी भी संस्कृत-प्रचुर[10] बना दी जाय।

---

९ – हिंदी-विरोध का मूल कारण लिपि ही है। उर्दू प्रेमी भली भाँति जानते हैं कि फारसी वा अरबी लिपि इतनी दोषपूर्ण है कि उसमें कोई भी भाषा भली भाँति लिखी-पढी नहीं जा सकती। उर्दू लिपि की इसी दुरूहता के कारण संस्कृत और भाषा के कितने ही अत्यन्त प्रचलित शब्द उर्दू में त्याज्य हो गये और मतरूक की पूरी बही बन गई। अतएव फिर हम यही कहना चाहते है कि भाषा और लिपि के प्रश्न को एक मे न साने कृपया उन्हे अलग अलग रहने दे।

१०—हिंदी को 'संस्कृत प्रचुर' बनाने का प्रश्न नहीं है। भारत की सभी देशभाषाएँ संस्कृतनिष्ठ हैं। हिंदी का विकास भी ठीक उसी क्रम से और ठीक उसी ढर्रे पर हो रहा है जिस क्रम से और जिस ढर्रे पर अन्य देशभाषाओं का। फिर समझ मे नहीं आता कि राष्ट्र का सारा कोप हिंदी पर ही क्यो हो रहा है। क्या इसका एक मात्र कारण यही नहीं है कि उसने एक परदेशी शैली को भी अपना अंग बना लिया और हमारी उदार सरकार ने प्रमाद अथवा नीतिवश कुछ काल के लिए उसी को सब कुछ बना दिया ? यदि हाँ, तो आपकी सच्ची राष्ट्रीयता कहाँ गई ! आप अपनी भाषा को परम्परा पर तो आँच आने नहीं देते पर चाहते हैं कि हमारी परम्परा भाड़ में चली जाय। यह कहाँ की नीति है ? भारत में तो ऐसा होने से रहा। हमें भी तो अपनी परम्परागत भाषा को रक्षा का उपाय करना है ? काम-काजी भाषा से आपका काम चल सकता है पर क्या हमारा हँसना और रोना भी उधार ही रहेगा ? आखिर हम किस भाषा में सभ्य संसार को अपना मुँह दिखायगे ? फारसी वा अरबी ? आपकी हिंदुस्तानी (?) ने हमारा कितना विनाश किया है, इसका

तो अन्य प्रांतवासियों को हिंदी सीखने में बड़ी सुविधा होगी। इसमें संदेह नहीं कि भारत के सभी अहिंदी प्रांतों की भाषाओं में संस्कृत का काफी प्रचलन है और हिंदी प्रांतों से किसी किसी प्रांत में संस्कृत भाषा व साहित्य या संस्कृत प्रभावित भाषा का अधिक प्रचार है। संस्कृत से ही अधिक फायदा उठाना हो तो उन्हें हिंदी प्रांत की तरफ देखने की आवश्यकता नहीं। यह इतिहास-प्रसिद्ध बात है कि दक्षिण भारत से शंकर, रामानुज, मध्व और वल्लभ जैसे सशक्त-साहित्यज्ञों ने समूचे भारत की विजय-यात्रा की थी। महाराष्ट्र और बंगाल से भी संस्कृत साहित्य की धाराएँ कम नहीं चली हैं। अगर संस्कृत-प्रचुर संस्कृत-प्रधान भाषा ही हमें लेनी है तो हमें उत्तर ही की ओर टकटकी लगाकर देखने की जरूरत नहीं। इस लेन-देन में उनका अपना दिवाला कभी निकल ही नहीं सकता। इस तर्क में जितना फायदा दीखता है उतना फायदा तो नहीं, उलटे कुछ नुकसान होने की संभावना अवश्य दीखती है। वह यह है कि बोलचाल की भाषा में भी काफी संस्कृत शब्दों की प्रचुरता आवे तो प्रांतीय भाषाओं का अस्तित्व कभी मिट जाने की संभावना भी हो सकती है। राष्ट्रभाषा तो एक अंतर्प्रान्तीय माध्यम ही रहेगी। वह कभी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रांतीय भाषा के क्षेत्र पर आक्रमण नहीं कर सकती और ऐसे आक्रमण का कोई स्वागत ही कर सकता है। वर्तमान समय में जो संस्कृत-प्रचुरता हिंदी में है वह काफी है। उसकी वृद्धि करने में कोई अप्राकृतिक या शीघ्रतापूर्ण प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं। इसमें हिंदी वादियों की तरफ से जो उत्साह, शीघ्रता वा आतुरता दीखती है, उसके कई कारण हैं। उनमें सबसे अधिक जबरदस्त

भी कुछ पता है! राजेन्द्री अथवा कांग्रेसी हिंदुस्तानी को पढ़कर कितने आन्ध्र वा द्रविड सीमान्त में व्याख्यता बने यह तो हम नहीं जानते पर इतना देखते अवश्य हैं कि हमारे भोले भाले बच्चे किस प्रकार क्या से क्या बनाये जा सकते है। अब अन्य भाषा-भाषियों को भी यह समझ रखना चाहिए कि हम 'राष्ट्रभाषा' की मृगमरीचिका में अपनी मातृ-भाषा को खो नहीं सकते।

कारण यह है कि वे उर्दू वाली भाषा के सम्पर्क व प्रभाव से अपने को दूर रखना चाहते हैं और उर्दू मे विजातीयता और हिंदी में सजातीयता देखने लगे हैं। जिस भाषा[11] का वर्षों उपयोग किया है और जिसके बीच वे रहे हैं उससे उनको प्रेम नहीं हो पाया है, यह बड़े ही दुर्भाग्य की बात है। लेकिन यह हम भूल नहीं सकते कि जिस भाषा की शैली या शब्दावली ने इस देश में सदियों तक रहकर इस देश की सेवा की है उन्हें निकाल[12] फेकना हमारे लिए न्याय की बात नहीं होगी। वे हमारे हो गये हैं। उनसे हमें अवश्य सेवा लेनी ही चाहिये। उन्हें अपनी सम्पत्ति समझकर अपना लेने ही में हमारा श्रेय है।

हिंदी के राष्ट्रभाषा बनने मे हम दूसरा तर्क यह पेश करते आये हैं कि वह हिंदू और मुसलमानों की सम्मिलित संपत्ति है। वह हिंदू और मुसलमान क्या, सभी वर्गों की वारिस है। उत्तर की बहुसंख्यक जनता की वह बोलचाल की भाषा है। उत्तर के शहरों व ग्रामो मे वह बोली व समझी जाती है। हिंदू और मुसलमानो ने उसका सारे भारत मे प्रचार किया है। उसको बोलचाल का रूप दोनों को मान्य है। इसी के द्वारा हिंदू और मुसलमान उत्तर के ही नहीं बल्कि सारे

११—यह कथन नितान्त भ्रम-पूर्ण है। उर्दू की स्थिति विचित्र है। उसकी लिपि राजलिपि रही और वह पतित हिंदी मुगल बादशाहो की भाषा। उसका प्रचार जब अँगरेजो के हाथ में आया और शिक्षा के द्वारा उसके प्रचार की सूझी तब उसी प्रकार उसका विरोध हुआ जैसे आज हो रहा है। पर जिस राज्य-लोभ के कारण आज उसका सत्कार किया जा रहा है उसी के लिए उस समय भी किया गया। क्या यह भी दुर्भाग्य की बात कही जा सकती है कि जिस कांग्रेस का काम रात दिन अँगरेजी में होता रहा है उसी का उससे इतना वैमनस्य है ?

१२—हिंदी के किसी भी पुजारी की कभी भी यह नीति नही रही कि सभी विदेशी शब्दो को दूर करो। सच पूछिये तो यह भी उर्दू का प्रोपगंडा है जिसका सूत्रपात्र स्वय सर सैयद अहमद खॉ ने दलबल के साथ किया और भोले भाले हिंदुस्थानियो ने उसे अक्षरशः मान लिया।

देश के लोगों से मिल सकते हैं। वह हमारी राष्ट्रीयता का प्रतीक है। राष्ट्र की वाणी है। हम उसी को माध्यम बनाकर राष्ट्र का उत्थान करेंगे। तब वह किसी सम्प्रदाय विशेष की, प्रांत या वर्ग-विशेष की भाषा रह गयी तो उस हद तक क्या उसकी उपयोगिता में कमी नहीं आयेगी? साथ ही उसकी राष्ट्रीयता में और उसके राष्ट्र-वाणी होने में भी? अतः यह आवश्यक है कि उसके भिन्न भिन्न स्वरूप और भिन्न भिन्न शैलियाँ और भिन्न भिन्न धाराएँ समूचे राष्ट्र की सम्पत्ति समझी जायँ। परस्पर-विरोधी[13] न मानी जायँ। उसके व्यापक व प्रचलित स्वरूपों व शैलियों का बेरोक-टोक अध्ययन करने का प्रोत्साहन दिया जाय। जो संस्था यह कार्य दिल खोल कर बिना किसी बन्धन के करेगी और जो व्यक्ति इन विचारों का साथ ही इन स्वरूपों का प्रचार करेंगे वे ही पूरे राष्ट्रीय कहलायेंगे। अन्यथा उनकी राष्ट्रीयता सीमित रह जायगी।

राष्ट्रभाषा का प्रश्न उत्तर भारतीयों के लिये एक अर्थ और दूसरे प्रांतों के लिये दूसरा अर्थ रखता है। जब महात्मा गान्धीजी ने हिंदी का राष्ट्रभाषा के तौर पर प्रचार शुरू कराया तब उनके सामने विशुद्ध राष्ट्रीयता को छोड़कर और कोई दूसरा उद्देश्य नहीं था। उनकी राष्ट्रीयता में न संकुचित राष्ट्रीयता के लिये स्थान है, न अनुदार साम्प्रदा-

---

१३—हम उर्दू क्या अरबी और फारसी के उस साहित्य को भी राष्ट्र की सम्पत्ति समझते हैं जिसकी रचना इस उपजाऊ भूमि में हुई है। हमें श्री मुहम्मदअली जिनाह का भी ठीक उसी प्रकार अभिमान है जिस प्रकार महात्मा गाधी का। हम दोनो को राष्ट्र की संपत्ति समझते हैं। परन्तु क्या हम इसी नाते उन्हें परस्पर-विरोधी नहीं मानते? जब उर्दू शैली का सभी शैलियो से विरोध है तब हम उसे विरोध की दृष्टि से क्यो न देखे और क्यों न आशा करें कि किसी दिन उसकी दृष्टि सुधर जायगी। हमें उर्दू की दृष्टि को सुधारना है, उसकी प्रवृत्ति को ठीक करना है न कि उसके विरोध को अचल और अमर बना कर अपनी आँख को ही फोड़ लेना है जिससे सारा भेद-भाव दूर हो जाय।

यिकता के लिये ही। समूचा भारत अपने प्रांत-भेदों, वर्ग-भेदों, भाषा-भेदों व विचार-भेदों को लेकर उसमे आ जाता है। जब राष्ट्रभाषा-प्रचार के उद्देश्य के सम्बंध में उनके विचार कहीं कहीं[१४] संदेह की दृष्टि से देखे जाने लगे तब उन्होंने इंदौर के सम्मेलन में उसकी व्याख्या कराई। और वह व्याख्या सर्वमान्य (?) और कूलंकर्ष थी। अब उस व्याख्या को बदलकर सम्मेलन ने अपनी भाषा-नीति की अबोहर संमेलन में जो व्याख्या की वह सर्वमान्य नहीं कही जा सकती; न उसमें राष्ट्रीयता व राष्ट्रभाषा का कूलंकर्ष रूप ही मिल सकता है।

इंदौर संमेलन में लिपि के प्रश्न पर भी प्रकाश डाला था। हिंदी को राष्ट्रभाषा और उसकी लिपि नागरी और उर्दू स्वीकार किया; यद्यपि संमेलन की शक्तियाँ अधिकतर नागरी के प्रचार करने में लगती आई हैं। उर्दू लिपि के प्रचार मे या जानने में उनको कोई आपत्ति नहीं थी। इसका यह कारण है कि सारे पंजाब में आज भी उर्दू लिपि[१५]

१४—इस 'कहीं कहीं' का कच्चा चिट्ठा जब सामने आ गया तब 'समेलन' को अपनी 'हिमालयी' भूल का पता चला और उसने अपनो नीति को स्पष्ट कर दिया। उधर महात्मा जी के सब कुछ करने पर भी वह सदेह दूर न हुआ बल्कि और भी दृढ होता गया। और यदि महात्मा जी की यही नीति ऐसी ही रही तो उसकी सोर पाताल में खिल जायगी और फिर एकता का प्रश्न सीधे परमात्मा के हाथ में पहुँच जायगा।

१५—यह कथन भी भ्रमपूर्ण है। पजाब में नागरी और गुरुमुखी का भी प्रचार है। हाँ, सरकारी काम-काज में फारसी लिपि ही बरती जाती है, नागरी नहीं। रही युक्तप्रात की बात, सो यहाँ सरकार की ओर से दोनों लिपियों को समान अधिकार प्राप्त है, फिर भी सरकारी काम-काज में फारसी की अधिकता अवश्य है पर जनता में फारसी लिपि का प्रचार बहुत कम है और प्रतिदिन घटता ही जा रहा है। बिहार में तो कांग्रेस के प्रताप से उर्दू का प्रचलन हुआ है नहीं तो वहाँ मुसलिम जनता में भी उर्दू नाम मात्र को थी और सरकार में तो थी ही नहीं।

ही चलती है और यू० पी० की अदालतों, कचहरियों और स्कूलों में भी उर्दू लिपि का भरपूर प्रचार है। साधारण तौर पर यू० पी० व बिहार के निवासी उर्दू लिपि से परिचित हैं। उर्दू लिपि भी काफी लोग जानते भी हैं। इसलिये इन दोनों लिपियों का अस्तित्व मानना पड़ा और भाषा रूप के साथ उसके दोनों चोगों का भी जिक्र हुआ। अब सम्मेलन इस वस्तु-स्थिति[१६] के विरुद्ध जाने का निश्चय करता है और वस्तु-स्थिति से अपने को अलग रखना चाहता है तब क्या राष्ट्रभाषा-प्रेमियों के लिये भी यह संभव है कि वे सम्मेलन का यह नेतृत्व स्वीकार करें, और यह समझें कि ३० दिसंबर १९४१ के पहले जो वस्तु-स्थिति थी वह दूसरे दिन गायब हो गई या उसके बाद गायब हो सकती है? सिर्फ नागरी लिपि के द्वारा जो कोई राष्ट्रभाषा सीखे क्या[१७] वह पंजाब और यू० पी० में अपना काम चला लेगा? यू० पी० के, पंजाब के शहरों व देहली में जो कोई जाय वह सबकी भाषा समझ सकेगा और अपनी भाषा में सबको समझा सकेगा? आपस के अन्तर्प्रान्तीय व्यवहार के लिये सिर्फ नागरी लिपि ही पूर्णतया काम देगी—इसमें संदेह नहीं है।

प्रत्येक भाषा-भाषी को शिक्षा के नाते अपनी मातृभाषा, संस्कृत और अंगरेजी सीखनी पड़ती है। सुविधा के लिये अपने पड़ोस की एक भाषा सीखना भी जरूरी हो जाता है। राष्ट्रीयता के नाते राष्ट्रभाषा भी सीखनी पड़ती है। इतनी भाषाओं का बोझ उस पर कम नहीं है। अगर वह राष्ट्रीयता एकांगी हो और अपूर्ण हो तो इस बोझे को ढोने में वह अवश्य हिचकिचायेगा। वह चाहेगा कि उसे राष्ट्रभाषा के द्वारा

१६—सम्मेलन 'वस्तु-स्थिति' को स्पष्ट करता है, उसका विरोध नहीं।

१७—इस 'क्या' का उत्तर कितना सरल है! हाँ। जाकर तो आप अपना काम चला सकते हैं पर लिख कर भरपूर वैसा नहीं। अभी तो आपको नागरी और फारसी के साथ ही साथ गुरुमुखी और अंगरेजी से भी काम लेना पड़ेगा। [illegible]

सच्ची व पूर्ण राष्ट्रीयता मिले; राष्ट्रभाषा उसे सौ फी सदी राष्ट्र-सन्देश सुनावे। अगर सम्मेलन[१८] अपनी तरफ से यह काम नहीं कर सकेगा तो उसे दूसरी संस्थाओं का दरवाजा खटखटाना पड़ेगा या अपनी अलग संस्था बना लेनी पड़ेगी।

कांग्रेस ने अपने कानपूर के सन् १९२५ के अधिवेशन में यह निश्चय किया था कि कांग्रेस की भाषा हिंदुस्तानी मानी जायगी और कांग्रेस की सारी कार्रवाई हिंदुस्तानी में ही होगी। संयोग और सौभाग्य की बात है कि इस प्रस्ताव को हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के प्रधान कर्ण-धार श्री पुरुषोत्तमदासजी ने पेश किया था। इस प्रस्ताव से हिंदी-प्रचारकों को बड़ा लाभ हुआ है। इससे यह स्पष्ट हो गया था कि श्री टंडन जी जिस भाषा को राष्ट्रभाषा मानते हैं उसका नाम हिंदी भी है, हिंदुस्तानी भी।

कांग्रेस इस वक्त देश की प्रधानतम राष्ट्रीय संस्था है और राष्ट्र-भावना का प्रचार करने वाली है, उसी की भाषा राष्ट्रभाषा हो सकती है, इसमें कोई शक[१९] नहीं। टंडन जी भी उसके एक प्रमुख नेता हैं इसमें भी कोई शक नहीं। हिंदुस्तानी शब्द की जो व्याख्या इस समय टंडन जी ने अबोहर में कराई है, वही व्याख्या उनके मन में कानपूर कांग्रेस के समय भी रही होगी। हिंदुस्तानी शब्द का प्रयोग करते समय उन्हें अवश्य मालूम हुआ होगा कि उस भाषा के लिये नागरी और फारसी दोनों लिपियाँ काम आती हैं। अब तक हजारों व्यक्ति जो इन

१८—'सम्मेलन' इसी से तो उस राष्ट्रभाषा और उस राष्ट्रलिपि का प्रचार करना चाहता है जो शीघ्र ही सर्वसुलभ और सर्वसुबोध है। फिर भी यदि किसी को दो दो भाषाओं और दो दो लिपियों की चाट लगे तो बेचारा सम्मेलन क्या करे!

१९—किन्तु काग्रेस सर्व-सुलभ राष्ट्रलिपि की घोषणा कर सकेगी इसमें पूरा सन्देह है। अभी तो उसका सारा प्रयत्न 'दो नाव पर चढ़ना' को ही चरितार्थ कर रहा है।

न्द्रह सोलह वर्षों से राष्ट्रभाषा के प्रचार में लगे हुए हैं, यही समझते आ रहे हैं कि राष्ट्रभाषा के दो नाम हैं—एक हिंदी और दूसरा हिंदुस्तानी। यही भाषा जब फारसी लिपि में लिखी जाती है तब उर्दू कहलाती है। इसी को ध्यान में रखकर राष्ट्रभाषा के प्रचार करनेवाले व्यक्तियों, जो प्रधानतया कांग्रेसवादी हैं, व संस्थाओं ने सम्लमेन का नेतृत्व स्वीकार किया। अगर इस नई व्याख्या को अपने को हिंदी भाषा-भाषी समझनेवाले सर्व सम्मति से मान लें और सम्मेलन अपनी सारी प्रवृत्तियाँ उनके लिए ही सीमित कर ले तो इसके लिये विवाद नहीं हो सकता, लेकिन सारे राष्ट्र पर यह व्याख्या लादी नहीं जा सकती। अतः राष्ट्रभाषा-प्रचारकों को यह कहने का अधिकार होना चाहिए कि राष्ट्रभाषा का नाम हिन्दी भी है और हिन्दुस्तानी भी और वह विशेषतः नागरी लिपि और कुछ प्रान्तों में फारसी लिपि में भी लिखी जाती है। प्रान्त, वर्ग व विषय के अनुसार उसकी कई शैलियाँ हैं। लेकिन संस्कृत प्रचुर शैली ज्यादा प्रचलित है। अपनी अपनी आवश्यकता व रुचि के अनुसार हर कोई अपने लिये शैली और लिपि को पसन्द कर लेता है। राष्ट्रभाषा की बोल-चाल की शैली वही है जो सारे हिन्दुस्तान के[20] कोने कोने में समझी व बोली जाती है।

युक्त-प्रान्त सदियों से अन्य प्रान्तों का पथ-प्रदर्शक रहा है। भाषाओं और संस्कृतियों की प्रयोगशाला का काम उसने किया है। विभिन्न भूभागों की जातियों व संस्कृतियों को गंगा और यमुना नदी में धो-धोकर उसने भारतीय रूप दिया है और उन्हें भारत के अन्य प्रान्तों में पहुँचाया है। युक्तप्रान्त में इतनी क्षमता, शक्ति, सजीवता और दूरदर्शिता है कि वह आज भी शुद्ध राष्ट्रीयता का सन्देश देश को दे सके। अगर वह वर्तमान कलुषित वातावरण के प्रभाव से, क्षणिक

२०—इस प्रशस्ति का पाठ तो बहुत होता है पर इसका अर्थ कुछ विशेष होता है जो सबकी समझ में नहीं आता। संभवतः वह तब तक दुरूह ही रहेगा जब तक हिन्दुस्तानी की गाड़ी को नाव पर लाद कर मरुस्थल पार करना है।

परिणामों के लोभ से, मलिन व संकुचित विचार-धारा के दबाव से, अपनी देन मे हमेशा अपनापन ही देखने की लालसा से, देश के सामने कोई कार्यक्रम रखे तो युक्तप्रान्त की पूर्व प्रतिष्ठा के प्रभाव[२१] में आकर देश उसको ग्रहण नहीं करेगा। क्या सम्मेलन के प्राण-स्वरूप देशभक्त श्री पुरुषोत्तमदासजी टंडन से मैं प्रार्थना कर सकता हूँ कि वे अपने अबोहर के प्रस्ताव पर एक बार और गौर करें और अपनी सहज दूरदर्शिता और सजगता का परिचय दें?

१४—सम्मेलन और जनपद

एकै साधे सब सधै, सब साधे सब जाय।
जो तू सींचै मूल को, फूलै फलै अघाय॥

मूल को सींचने के विचार से हिंदी-साहित्य-संमेलन के गत

२१—युक्तप्रान्त तो सदा से अतिथि-भक्त रहा है और फलतः आज भी उसकी अतिथिशाला खुली हुई है। उसकी आत्मीयता यही है कि उसका अपनापन कुछ भी नहीं है। उसके पास कोई अपना नाम भी तो नहीं है। पर पंच ने मिलकर उसे जो काम सौंप दिया उसे उसने निभाने में कोई कमी नहीं की। आज भी हम सभी देशभाषाओं से मिलने को लालायित हैं। हम अपमी भाषा को उन पर लादना नहीं चाहते, हम तो उनके मेल में आना चाहते हैं। हम सच्चे हृदय से उनसे जानना चाहते हैं कि उनके हृदय का मेल किसमें दिखाई देता है हिंदी, उर्दू अथवा हिंदुस्तानी में? उनकी लिपि किसे पहचानती है नागरी, फारसी वा रोमक को? हमे तो आज भी इस बात का पूरा सन्तोष है कि राष्ट्रभाषा की जितनी परिभाषाएँ जब जब गढी गई हैं तब तब युक्तप्रान्त के बाहर भिन्न भिन्न प्रान्तों में ही और यह अन्तिम परिभाषा निकली है उस प्रान्त से ही जिसे लोग उर्दू का गढ़ समझते हैं। फिर किसी को इसमें हमारी शान क्यों दिखाई देती है? हमारा अपराध क्या है?

अधिवेशन (हरिद्वार) में जनपद संबंधी जो प्रस्ताव स्वीकृत हुआ उसकी मान्यता चाहे कुछ भी रही हो पर लोग उसका संकेत भापा मात्र समझते हैं और कुछ लोग उससे यह अर्थ निकालना चाहते हैं कि 'संमेलन' प्रत्येक जनपद की भाषा तथा साहित्य को प्रोत्साहन दे, उसे हिंदी के समकक्ष करे; परंतु ध्यान देने की बात है कि क्या 'संमेलन' इस प्रकार की उदार चेष्टा से अपना महत्त्व बढ़ा सकता है और उसके द्वारा हिंदी की यथार्थ सेवा हो सकती है। कहना न होगा कि हिंदी की व्यापक-वृद्धि पर कुठाराघात की यह प्रवृत्ति उनकी ओर से हो रही है जो भाषा की मूलशक्ति से सर्वथा अपरिचित और मातृभाषा के ममता भरे प्रवाह में बह जानेवाले जीव हैं। सच पूछिए तो मातृभाषा में माता को जो दुहाई दी जाती है वही जन्मभाषा के कुछ प्रतिकूल भी पड़ जाती है। मातृभाषा के पुजारी यदि ध्यान से देखें तो उन्हें भी सहसा स्पष्ट हो जाय कि स्वयं माता भी तो अपनी मातृवाणी पर आरूढ़ नहीं रहती और पतिलोक की पतिवाणी का अनुसरण करती है। अर्थात् माता तो स्वयं द्विभाषिणी होती है। उसकी नैहर की भाषा नैहर में ही छूट जाती है और ससुराल में आते ही ससुराल की भापा सीखनी होती है। फिर मातृभाषा के उपासक मातृभाषा को ही सब कुछ कैसे मान सकते हैं? उन्हें तो किसी पितृभाषा को भी महत्त्व देना ही होगा। तात्पर्य यह कि भाषा के प्रश्न पर भावुकता से विचार नहीं हो सकता। यहाँ तो विवेक से काम लेना होगा और कुछ ऐसा उपाय करना होगा जिससे जन्मभाषा के द्वारा राष्ट्रभाषा को शक्ति मिले, कुछ कड़ी फटकार नहीं।

हिंदी राष्ट्रभापा ही नहीं, एक बड़े भूभाग की शिष्ट भाषा भी है। द्रविड़ भाषाओं से हिंदी का जन्मजात नाता नहीं; पर संस्कृति का संबंध तो उनसे अवश्य है? गुजराती, मराठी, बंगला आदि देशभाषाओं से हिंदी का सजातीय संबंध है तो राजस्थानी आदि से स्वाजातीय और व्रजभापा अवधी आदि को तो उसका स्वगत भेद ही समझना चाहिए। निदान, मानना ही पड़ता है कि भाषा के क्षेत्र में भारत की सभी

प्रमुख भाषाओं को एक साथ ही नहीं हाँका जा सकता। उनके अलग-अलग रूप और अलग-अलग शक्ति पर विचार करना ही होगा और यह भी देखना ही होगा कि हमारी इस जनपदीय चेष्टा से कहीं एक ही घर मे फूट तो नहीं मच रही है। उदाहरण के लिये पंचाल जनपद को लीजिए। कुरुपंचाल का कुछ ऐसा संबंध जुटा था कि 'पांचाली' 'कौरवी' हो गई। अर्थात् पांचाली नाम की कोई अलग भाषा नहीं रही। फिर भी यदि कहा जाता है कि पचाल जनपद की उच्च से उच्च शिक्षा पांचाली में ही होगी तो इसका अर्थ है कि सभी अपने आपको विश्वविद्यालय समझ लें और अपनी-अपनी बोली में विश्व का निर्माण करें। पर दुनिया जानती है कि यह नहीं होने का। मनुष्य अपना प्रसार चाहता है, बटोर नहीं। सब को मिलकर किसी एक को महत्त्व देना ही होगा। नहीं तो किसी को कोई पूछेगा क्यों? तू कहीं और मैं कहीं से किसी का काम नहीं चलता।

भाग्यवश आज यदि डिंगल' स्वयं 'पिंगल' से दूर भागना चाहता है तो साहित्य के क्षेत्र मे भी आज वह वही भूल करना चाहता है जो राजनीति के क्षेत्र में सदा से करता आ रहा है। उसे ध्यान रखना होगा कि भाषा दाय के रूप में नही मिलती उसे तो प्रत्येक प्राणी को कमाना अथवा अपने प्रयत्न से प्राप्त करना पड़ता है। बालक सहज में ही ऐसी वाणी को अपना लेता है जो उसके पड़ोस में होती है और उसके समाज वा कुटुब में बराबर बरती जाती है। अतः बच्चे की बात उठा किसी बनी बनाई बात को बिगाड़ना सूझ नहीं, समझ नहीं और चाहे जो हो। जिसे अपनी जन्मभाषा की अधिक ममता हो वह उसे जितना चाहे उगा ले पर उसे भी इतना तो मानना ही होगा कि वह विश्व का प्राणी नहीं; राष्ट्र के किसी कोने का पतंग है। यदि वह संसार में अपना जौहर दिखाना चाहता है तो उसे जन्मभूमि से उमड कर कर्मभूमि में आना ही होगा जन्मभाषा से निकलकर कर्मभाषा में धँसना ही होगा। आज के इस प्रलयंकारी युग में भी जो हिंदी, हिंदी को कर्मभाषा नहीं समझता वह निश्चय ही ब्रह्मा द्वारा ठगा गया है।

उसको विधि बाम हो गया है। 'बुंदेली', 'कन्नौजी', 'भोजपुरी' आदि भी यदि स्वतंत्रता का बिगुल बजा कर अपना-अपना स्वराज्य स्थापित करना चाहती हैं तो चार दिन के लिये कर लें; पर कृपया भूल न जायँ कि किसी विशाल साम्राज्य से भी उन्हें कुछ लेना-देना अवश्य है। हमारी समझ में तो यह बात नहीं आती कि इन्हें भी इतनी अपनी-अपनी क्यों पड़ी है, इनका तो हिंदी से भात-भोज का नाता और सहज संबंध है? हाँ, 'मैथिली' और 'मुल्तानी' की गति कुछ न्यारी अवश्य है। वे चाहें तो हिंदी की 'तीरभुक्ति' बनी रहें अथवा अपना स्वतंत्र झंडा खड़ा करें। कुछ भी करें उन्हें यह जन्मसिद्ध अधिकार है। परंतु जब 'हिंद' के भीतर उनकी भी गणना है और उनके पूर्वज सदा से उसके अभिमानी हैं तब अपने आपको 'हिंदी' से अलग न करें इसी में उनका तथा लोक का कल्याण है। संक्षेप में हम जानना यह चाहते हैं कि 'संमेलन' किसी ऐसे जनपद के कार्य में सहयोग क्यों दे जो अपनी भाषा को उठाकर हिंदी के समकक्ष लाना चाहता हो और आर्यावर्त की समभूमि में विषमता का बीज बोना चाहता हो। नहीं; प्रत्येक जनपद का यह पावन कर्तव्य है कि वह 'संमेलन' से अपनी माँग स्पष्ट करे और अपनी निश्चित धारणा के साथ वह संघटन करे जिससे स्थिति को समझने और सुलझाने में सुविधा हो। रही स्वयं 'संमेलन' की बात, सो वह बराबर जन-साहित्य के प्रकाशन में लगा है और किसी भी जनपद के किसी भी अध्ययन को प्रकाशित करने को सदा कटिबद्ध है। संमेलन किस प्रकार जनपदों के अध्ययन में योग दे सकता है और जन्मभाषा को सुशील बना शिष्ट भाषा के साथ बढ़ा सकता है इसका निर्णय हिंदी जनपदों की विचारशीलता पर निर्भर है। आशा है, भाषाशास्त्र के मर्मज्ञ और मानवता के पुजारी समय रहते इस विकट प्रश्न पर ध्यान दें किसी ऐसे मार्ग का विधान करेंगे जो 'सुरसरि सम सब कहँ हित होई' का विधायक होगा।

—

१५—हिंदुस्तानी-प्रचार-सभा

'हिंदुस्तानी-प्रचार-सभा' का होनहार क्या है इसको हम ठीक-ठीक नहीं कह सकते परंतु इतना जानते अवश्य हैं कि अभी-अभी होली के अवसर पर महात्मा गांधी की पुरोहिताई में वर्धा में गर्भ की हिंदुस्तानी का जो राज्याभिषेक हुआ है वह किसी प्रकार भी महाकवि कालिदास के 'रघुवंश' की 'गर्भवती पटरानी' के गर्भ के राज्याभिषेक से कम नहीं है। हाँ, यदि इसमे किसी प्रकार की कमी है तो बस इतनी भर कि इसके आचार्य इतना नहीं जानते कि वस्तुतः यह गर्भ है अथवा नहीं। उनको तो बस यही पर्याप्त है कि यह कुछ न कुछ है अवश्य। हम भी इस अवश्य का स्वागत करते है और स्वागत नहीं-नहीं अगवानी वा इस्तकबाल करते हैं इस गर्भ के राज्याभिषेक का। भला कौन-सा ऐसा प्राणी होगा जो इस राज्याभिषेक का स्वागत न करे और न करे इस गर्भ की हिंदुस्तानी की परिचर्या। किंतु हमें यदि आशंका है तो केवल इसी बात की कि कहीं यह 'गर्भ' न होकर 'रोग' न निकले और केवल 'अपने जनमले नाश' को ही कहीं चरितार्थ न करे। कारण यही कि अभी हमारी मेधा बनी है और वह समझती भी खूब है कि दो के मेल से तीसरा उत्पन्न भले ही होता हो परंतु तीन से दो का मेल नही होता। और इस देश में दो क्यो, पहले से भी तीन है। महात्मा गांधी अँगरेजी को पी सकते है, अल्लामा सैयद रोमो को उड़ा सकते हैं किंतु कोई कुछ भी कहे सत्य पुकार कर कहता और इतिहास उठाकर डंका बजा कर कहता है कि अँगरेजी ने इतने अल्पकाल में जो कुछ कर लिया और रोमी विश्व में अपना सिक्का जो जमा लिया वह किसी के आँख मूँदने अथवा गाल बजाने से दूर नहीं हो सकता। वह खलीफा के घर में भी चल रहा है और हिंदुस्तान में भी। वह सरापने से मर नहीं सकता और जलाने से सरपत की भाँति और भी हराभरा होगा और बढ़ेगा। तो महात्मा गांधी कहते क्या हैं और मुसलिम देवता (मुसलिम डिवाइन) अल्लामा सैयद सुलैमान नदवी फरमाते क्या हैं?

यही न कि देशी राज हो और देशी भाषा हो। हो, परंतु पूछना तो यह है कि देशी राज और देशी भाषा के लिये किसी देशी हृदय की भी कभी आवश्यकता पड़ती है वा नहीं? सुनिए अल्लाला सैयद सुलैमान नदवी के उस्ताद अल्लामा शिबली नोमानी कहते क्या हैं। उनका दुखड़ा है—

"मोकर्रमी, तसलीम, मैं उर्दू वर्नाकूलर स्कीम कमेटी की शिरकत[1] की ग़रज़ से इलाहाबाद गया था मिस्टर बर्न ने चंद निहायत मुज़िर[2] तजवीज़ें उर्दू के हक़ में पेश की थीं। एक यह भी थी कि रामायन भाषा इंटरेंस के इम्तहान में लाज़मी[3] कर दी जाये। और उर्दू जो मदारिस[4] में है वह ऐसी कर दी जाये कि हिंदी बन जाये। अजीब मंतिक़ी[5] दलायल[6] घड़े[7] थे। पंडित सुंदरलाल वग़ैरह कमेटी के मेंबर थे। तीसरे जलसे में कामिल[8] फ़तेह हुई। तमाम तजवीजें उड़ गईं। अगरचे अफ़सोस है कि मुसलमान मेंबरों ने कोई मदद मुझको न दी और देते क्या देने के क़ाबिल भी न थे। शिबली।"

(दास्ताने तारीखे उर्दू, लक्ष्मीनारायन अग्रवाल, आगरा, सन् १९४१ ई०, पृष्ठ ६७६)

अल्लामा शिबली नोमानी के इस पत्र पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता इसलिये पड़ी कि इस कमेटी का भी ध्येय था कि—

"इस्कूल और कालिजों के लिये देशी ज़बान का निसाबेतालीम[9] ऐसी ज़बान में मुरत्तब[10] किया जाय कि एक ही इबारत के साथ उर्दू, हिंदी दोनों ज़बानों में पढ़ा जा सके।" (वही, पृष्ठ ६७६)

इसका निश्चय क्या हुआ इसके कहने से क्या लाभ? लाभ तो इसे भूल जाने में ही है। कारण कि इसको पेश किया था 'बर्न' साहब ने। बर्न साहब सरकारी जीव थे। उन्हें जाने दीजिए और जाने दीजिए उन 'मुसलमान मेम्बरों' को जिन्होंने 'रामायन' के विरोध में

१—साझे। २—हानिकर। ३—अनिवार्य। ४—मदरसों। ५—तार्किक। ६—दलीलें। ७—गढ़े। ८—पूर्ण। ९—पाठ्यक्रम। १०—क्रमबद्ध।

उक्त मौलाना का साथ नहीं दिया था और जाने दीजिए उन हिंदुओं को भी जिनने इस संग्राम में मौलाना का हाथ बटाया था; परन्तु सब कुछ होते हुए भी हम आज हिंदुस्तानी के प्रसंग मे इस बात को कैसे भूल सकते हैं कि इसी विजयी अल्लामा को 'रामायन' का और इसी 'रामायन' का पता इतना है कि आप किस तपाक, नहीं नहीं किस अधिकार से लिखते है—

"हिंदुओं मे सब से बड़ा शाइर आखिर ज़मानः का कालिदास गुज़रा है जिसने रामायन का भाका में तरजमा किया है। नुक्ताशनासों[11] का बयान है कि कुदरते[12] ज़बान के लेहाज़ से 'पद्मावत' किसी तरह 'रामायन' से कम नहीं और इस क़दर तो हर शख़्स देख सकता है कि 'पदमावत' के सफह: पढ़ते चले जाओ अरबी-फ़ारसी के अल्फ़ाज़ मुतलक़[13] नहीं आते और यों शाज़वो नादिर[14] तो 'रामायन' भी ऐसे अल्फाज़ से ख़ा.ली नहीं। मुलाहिज़ा हो—

'रामायन' के बाज़ अशआर—

राम अनेक गरीव निवाजे। लोग वर बर बरद बिराजे॥
गनी गरीव गराम नर नागर। पंडित मोटे मिले उजागर॥

(मोक़ालात शिव्ली, जिल्द दोयम, दारुल् मुसन्निफ़ीन आज़मगढ़, सन् १९३१ ई०, पृ० ८१)

'कालिदास' की 'भाका रामायन' का हमे पता नहीं पर हम इतना तो पूछ ही सकते हैं कि क्या किसी 'भाका' के सपूत के सामने कभी किसी 'रामायन' में 'लोग बरबर बरद बिराजे' अथवा 'पंडित मोटे मिले उजागर' जैसा पाठ मिला है और यदि मिला है तो इसका अर्थ क्या है? प्रसंगवश हम इतना और कह देना चाहते हैं कि अल्लामा शिबली नोमानी का 'नोमान' से कोई जन्मजात वा वंशजात सम्बन्ध न था। नहीं उनका वंश तो सर्वथा हिंदी था। आप आजमगढ़ के बिनवल गाँव के जन्मे थे और वंश के रौतारा थे अर्थात् ठेठ देशी थे। फिर भी

११—जानकारों। १२—शक्ति। १३—बिल्कुल। १४—यदाकदा।

ानते इतना भी नहीं कि कालिदास किस भाषा का कवि है और
ाषा' में किसने 'रामायन' की रचना, नहीं नहीं तरजमा किया और
ऊर भी विरोध करते हैं उस विश्ववन्द्य कवि की उस रचना का
जसको पाठ्यक्रम में रखने का प्रस्ताव करता है सात समुन्दर पार
ा एक जीव। माना कि रामायण हिन्दू है और माना की रामायण
हिन्दी है और यह भी मान लिया कि उसमें काफिरों की 'बुत
परस्ती' है, और यह भी मान लिया कि किसी मुसलमान-बच्चा को उसे
नहीं पढ़ना चाहिए। सब कुछ माना पर इसी से यह भी कैसे मान लिया
जाय कि किसी अल्लामा नोमानी को इसी से यह अधिकार प्राप्त हो गया
कि वह हमारे मुकुटमणियों का उपहास करे और इस प्रकार मनमाना वा
मनगढन्त पाठ देकर उनके कवि कर्म को नीचा ठहराए ? आप कहेंगे,
मौलाना शिवली तो आज रहे नहीं फिर हिन्दुस्तानी के प्रचार के प्रसंग
में आज उनका नाम क्यों लिया जाता है। ठीक है, पर आज रेडियो में,
हिन्दुस्तान की हिन्दुस्तानी में रामराज्य का विरोध क्यों हो रहा है ?
क्या महात्मा गान्धी की हिन्दुस्तानी में कहीं रामराज्य है ? क्या उनकी
हिन्दुस्तानी में भारत के अतीत पुरुषों का भी कोई स्थान है ? क्या अतीत
को छोड़ कर हिन्दुस्तानी पनप सकती है ?

कहते हैं हिन्दी नहीं हिन्दुस्तानी। कारण ? हिन्दी - हिन्दी जो बन
गई है ? तो क्या आप हिन्दी नहीं बनना चाहते ? कहते, हैं हम
मुसलमान हैं। 'मुसलिम है हम वतन है सारा जहाँ हमारा।' अच्छा,
यही सही पर सच तो कहें, सारे जहाँ के मुसलमान भी यही कहते हैं ?
महात्मा गान्धी इस पर ध्यान नहीं देते बस चाहते हैं स्वराज्य। किसके
लिये, कह नहीं सकते, पर नाम सदा लेते हैं जनता का। क्यों ? इसके
सिवा कुछ और कर भी तो नहीं सकते ? जनता को जनता ही क्यों नहीं
रहने दिया जाता है ? उससे हिन्दू वा मुसलमान क्यों बनाया जाता है ?
क्या इसके बिना किसी देश का काम ही नहीं चल सकता ? और यदि
यही न्याय है तो ईसाई क्यों नहीं ? पारसी भी तो यहीं बसते हैं ? बसें
पर उन्हें पूछता कोई क्यों हैं ? मतलब के साथी सब हैं। पर महात्मा

गान्धी को भूलना न होगा कि देश का उद्धार देशभावना को लेकर ही खड़ा हो सकता है कुछ किसी ऊपरी समझौता को लेकर नहीं। यदि मुसलिम को हिन्दी होने का अभिमान नहीं तो फिर हिन्दी से उसका मेल नहीं और हिन्दू को तो वह सह नहीं सकता, क्योंकि वह उसका प्रतिद्वन्द्वी शब्द है। कहने को कोई कुछ कहे पर परिणाम प्रतिदिन प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है। कहा जा सकता है कि इसी से तो 'हिन्दुस्तानी' का नाम लिया जा रहा है, हिन्दी का नहीं। निवेदन है, यही तो भूल हो रही है। उपाय नहीं। आप कुछ भी कहें पर विवेक इतिहास खोल कर कहेगा यही कि यह ठगी का सौदा ठीक नहीं। जो 'हिंदी' को नहीं मानता वह 'हिन्दुस्तानी' को कदापि न मानेगा। यदि मेल की बात पक्की होती तो उर्दू कभी बनती ही नहीं। बनी-बनाई हिन्दी को छोड़ कर जब उर्दू घड़ी गई तब भी देश के सामने वही प्रश्न था जो आज है। उर्दू बनी, बढ़ी, फली और फूली पर उसका सोता सूख गया। आज 'ईरानी' और तूरानी की शक्ति मारी गई। ईरान स्वयं खरा ईरानी बन गया और तूरान खरा तूरानी। अरबी के दिन भी फिरे तो अरबों में ही। आज न अरब में कोई ऐसी संस्था बन रही है और न ईरान-तूरान में जो अरबी का प्रचार करे और मुसलिम मात्र को देशकाल से मुक्त समझे। परन्तु हमारे देश में हो क्या रहा है? अरबी और फारसी का आग्रह? क्यों? इस देश में मुसलमान जो रहते हैं?

वर्धा के वीर व्याख्यानों मे क्या कहा गया? यही न कि हिंदी और उर्दू को मिलाने का प्रयत्न करो। ठीक, कितनी बढ़िया बात है! पर कैसे? बस इसी को न पूछो। बढ़िया बात वही होती है जो कहने की है, करने की नहीं। कहने को तो बड़े बड़े वक्ताओं ने कह दिया कि सरल भाषा का प्रयोग करो पर किसी ने नहीं कहा कि सरल बनो। पोथी को छोड़ो और प्राणी को पकड़ो। महात्मा बुद्ध पोथी लेकर लोकवाणी में प्रचार करने नहीं निकले थे। पोथी बनी और लोकवाणी गई। मुहम्मद पोथी ले कर इसलाम का प्रचार करने नहीं निकले थे। पोथी बनी और जनता की बानी मारी गई। अल्लाह ने कहा—ऐ मुहम्मद!

अरब की वाणी में अरब से कहो। तूरान ने कहा 'तूरानी में तूरानी से कहो, पर 'मुसलमान' (?) ने कहा उर्दू में हिंदी से कहो। उर्दू का अर्थ ?

मुसलिम देवता 'नोमानी' भक्त श्री सैयद सुलैमान नदवी उठे। उर्दू की दुर्बलता को देखा। तर्क की शरण ली और न्याय की प्रेरणा से कह दिया जब इस देश का नाम हिंदुस्तान है तब यहाँ की भाषा का नाम भी हिंदुस्तानी। और काम ? हिंदुस्तानी नहीं; हिंदू और मुसलमान का मेल। सो कैसे ? यही न कि संस्कृत और अरबी के मोटे मोटे शब्द छोड़ दो और समय पड़ने पर अरबी, फारसी, संस्कृत और अंगरेजी से शब्द लो ? कितनी सीधी बात है और कितने सीधे ढंग से चारों ओर घूम घूम कर कही जा रही है। पर वस्तुतः इसका कुछ अर्थ भी है ? हाँ, साथ ही एक और बखेड़ा भी खड़ा किया जा रहा है। कहा और बड़े विचार से कहा जा रहा है कि समस्त उत्तर भारत में जो भाषा बोली जाती है उसी में रचना करो। जनता की वाणी को अपनाओ। एक साथ एक हिंदुस्तानी के लिये इतने झमेले उठ खड़े होते है कि किसी विवेकशील व्यक्ति के लिये यह समझना ही कठिन हो जाता है कि यह कोई रमझल्ला हो रहा है या 'सोखाई। गोरख-धंधा तो हम इसे कह नहीं सकते। निष्कर्ष यह कि 'माशूक की कमर' की भाँति हिंदुस्तानी के विषय में जो कुछ कहो सब ठीक है। अथवा 'अलख लखी नहिं जाइ' को ही ठीक समझो परन्तु इतना जान लो कि यह कमर कस कर कुछ कर दिखाने का मार्ग नहीं। हाँ, दिल बहलाने के लिये 'ग़ालिब' ख़याल अच्छा है।' अच्छी बात वही तो होती है जो हो न पर जिसके होने की कल्पना उछलती रहती हो ? हम नहीं कहते कि हमारे देश में हिंदुस्तानी के 'सोमशर्मा' (शेखचिल्ली) नहीं। नहीं, हमारा कहना तो यही है कि इस हम नहीं और तुम नहीं से स्वराज्य नहीं सध सकता। हाँ, किसी का राज्य अवश्य ही जम सकता है।

कहते और हमारे मुसलिम देवता अल्लामा सुलैमान साहब कहते हैं कि यहाँ तो कुछ था ही नहीं: जो कुछ दिखाई देता है सभी मुसल-

मानों के साथ आया है। मुसलमानों के साथ इस देश में आया तो कोई बात नहीं पर इसलाम के साथ संसार में तो नहीं आया जो मुसलमान को इतना महत्त्व दिया जा रहा है? पर नहीं, इससे सैयद साहब को कोई प्रयोजन नहीं। उन्हें तो बस ले-दे के यही सिद्ध करना है कि जो कुछ यहाँ फला-फूला और बना-ठना दिखाई देता है वह सब मुसलमानों का प्रसार है। परन्तु उनके इस मार्ग मे सब से बड़ी कठिनाई है भाषा और विशेषत: शब्द की। इतिहास को तो आग लगा कर चाटा जा सकता है और मुसलमान लेखकों के प्रताप से कुछ का कुछ कर दिखाया भी जा सकता है किन्तु जब तक हिंदी शब्द जीवित हैं तब तक ऐसा हो नहीं सकता। सैयद साहब ने कहा—अंगूर और अनार मुसलमानों के साथ इस देश मे आये। हिंदुस्तानी ने कहा—ठीक। यदि ऐसा न होता तो यहाँ अपना भी तो कोई नाम होता? परन्तु हिंदी यह दिवान्धता सह नहीं सकती। वह आगे आती और बढ़ कर सैयद साहब से पूछ बैठती है-कहिए अल्लामा साहब! आप ने पढ़ा क्या है और सुना क्या है? सैयद साहब तपाक से आगे बढ़ते और अरबी, फारसी, उर्दू आदि का नाम सुना जाते हैं। वह सीधा सा प्रश्न करती कुछ यहाँ का भी। सैयद साहब मुसकरा कर कह देते—हाँ, यहाँ का भी। मुसलमानों ने यहाँ के बारे में बहुत कुछ लिखा है और उनके अतिरिक्त यहाँ का इतिहास है ही कहाँ? हिंदी ठिठक कर सरल भाव से कह जाती है—और द्राक्षा और दाडिम कहाँ से किसके साथ आए? क्या 'द्राक्षासव' का नाम आपने कभी नहीं सुना और नहीं सुना कहीं दाडिम का नाम राजपूताने में घूमते समय? यदि हाँ, तो आप आज किस मुँह से कह रहे हैं कि अंगूर और अनार के लिए यहां अपना कोई शब्द नहीं और आए भी यहाँ अंगूर और अनार मुसलमानों के साथ हाँ। मुसलमानो के पहले अफगानिस्तान पर किसका शासन था बता सकते हैं और जानते हैं कुछ वहाँ के त्रिलोचनपाल को? आप कुछ भी कहें पर आप को मानना ही होगा कि आपने अपनी हिंदुस्तानी के प्रचार का जो महात्मा गान्धी को साधन बनाया है वह सचमुच स्व-

राज्य के लिए, राष्ट्रोद्धार अथवा लोक-कल्याण के लिये कदापि नहीं। और यदि नहीं; तो आप ही कहें कि आप कहाँ के कैसे पढ़े-लिखे हिंदुस्तानी हैं जो अपने देश के विषय में जानते इतना भी नहीं और बाजते फिरते हैं अल्लामा ? नहीं; अवश्य ही दाल में कुछ काला है, दिमाग में न सही। शिवली के जाल से मुक्त हो तनिक देखिए तो सही। आप लिखते हैं—

"घोड़े की सवारी कहीं न थी। मगर जब मुसलमान यहाँ आए तो लगाम, ज़ीन, तंग, खूगीर, रकाब, नाल, नुक्ता, जुल, जिसकी ख़राबी झोल है, सईस, सवार, शहसवार, ताजियाना, क़मची, सब अपने साथ लाए" (नुक़ूशे सुलैमानी, पृ० २९-३०)

माना, आपका कहना सोलहो आना सच है। पर कृपा कर यह तो कहे कि यदि यही स्थिति थी तो क्या जादू के बल पर लोग 'घोड़े की सवारी' करते थे ? क्या बिना लगाम के किसी को किसी घोड़े पर सवारी करते देखा है और कभी बिहार में रहते हुए आप ने कभी 'रास' का नाम नही सुना है ? अरे ! आप क्या कहते ? क्या और किस हिदुस्तानी के लोभ में किस हिंदुस्तान को कितना जपाट सिद्ध करना चाहते है ? क्या आप को पता नहीं कि 'सवार' शुद्ध 'असवार' से बना है और आप के पड़ोस के लोग फलतः आज भी उसे ठेठ में 'असवार' ही कहते हैं, 'सवार' नहीं। 'सवार' तो इसी लिये बनाया गया है कि वह मुसलमानों के साथ यहाँ आ सके। नहीं तो ईसा के २४ वर्ष पहले तक तो स्वयं मुसलमानों के घर अरब में घोड़े का पता ही नहीं चलता। कुछ इसकी भी सुधि है ? यही दशा 'जुल' की भी है। यह 'झोल' की ख़राबी है जो लिपि-दोष के कारण हो गई है। 'झ' मुसलमानी लिपि में है कहाँ ? कुछ भाषाशास्त्र और 'कोष' से भी तो पूछ देखें ! कि आप की हिंदुस्तानी सबको खा चबा कर ही पुष्ट होगी ? अरे ! देश का जिसे थोड़ा भी अभिमान है वह आप की इस विलक्षण खोज से इतना तो सीख ही लेगा कि अपने को उर्दू के चक्कर से मुक्त करे और सर्वथा हिंदी का हो रहे। हिंदी उन शब्दों को कभी छोड़ नहीं

सकती जिनमें इस देश का मान छिपा है और जिसकी रक्षा आज तक इस मुसलमानी आक्रमण से होती आ रही है। मुसलमानी इसलिये कि आप इसी को इसलाम समझते हैं, नहीं तो हम तो इसको शाही लटके के सिवा और कुछ नहीं समझते और नहीं समझते उस स्वर्गीय स्वराज्य ही को कुछ जिसमें सब कुछ तो रहे पर अपना कुछ भी न रहे और यदि रहे भी तो अपने रूप में कदापि नहीं। हाँ, उर्दू के रूप में हो कर ही।

अच्छा, तो उर्दू का रूप है क्या? सुनिये, सैयद इंशा? खुले रूप में कहते हैं—

"और किसी लफ्ज़ के उर्दू न होने से यह मुराद[1] है कि उर्दू में हुरूफ की कमी-बेशी से वह ख़राद पर नहीं चढ़ा ख्वाह दूसरी जगह मुरव्वज[2] हो। बाजे अल्फाज़ शहर में और दूसरी जगह मुशतरक[3] हैं लेकिन साज़ वो नादिर। जैसे सूरज, तारा, साग, पान, वग़ैरह। मुख़्तसर[4] यह कि उन लफ्ज़ों के सिवा जिन्हें शहर के फसीह[5] और दूसरी जगह के वाशिन्दे इस्तैमाल करें ऐसा हर लफ्ज़ जिसको अहलेशहर[6] दो तलफ्फ़ुज़ो[7] में अदा करे उन दोनों लफ्ज़ों में जो लफ्ज़ कि दूसरी जगह तालिम[8] के सिवा मुरव्वज न हो ज़बान उर्दू है।" (दरियाचे लताफत, वही, पृ० २७०)

'तालिम के सिवा मुरव्वज न हो ज़बान उर्दू है' को तो आप आज महात्मा गान्धी की कृपा और वर्धा की हिन्दुस्तानी तालीमी संघ की अनुकम्पा से यों भी समझ सकते हैं कि जो 'तालीम के सिवा मुरव्वज न हो ज़बान हिन्दुस्तानी है।' कारण, आज हिन्दुस्तानी है भी उर्दू का पर्याय और महात्मा गान्धी कहते भी हैं कि वह कहीं है तो नहीं पर कहीं गुप्त अवश्य है। उसको प्रकट करना ही उनकी वर्धाई योजना का प्रयत्न है। ठीक है। सगर-सुतों को तारने का जो भगीरथ प्रयत्न हुआ

१—अभिप्राय। २—प्रचलित। ३—साझी। ४—सक्षेप। ५—शिष्ट। ६—नागरिक। ७—उच्चारणों। ८—शिक्षा।

उसी का परिणाम तो गंगा है फिर भारत को तारने का जो कलामी प्रयत्न हो रहा है उसका फल सरस्वती क्यों न हो। किंतु विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या 'वंदे मातरम्' से खार खानेवाली और घूम घूम कर दरबार में 'बंदगी' बजाने तथा 'मादर' का प्रयोग करनेवाली उर्दू इस सरस्वती की देवपूजा को सह सकेगी। महात्मा जी की सरस्वती हिंदुस्तानी के रूप में फूट रही है। वह है तो अवश्य पर देश नहीं महात्मा गांधी के मानस में। उसका प्रचार कहीं है तो नहीं किंतु वह प्रचलित होगी 'तालीम' के द्वारा। है न महात्मा गांधी का यही पक्ष? सौभाग्य की बात है कि आज से ठीक २०० वर्ष पहले जैसे ईरानी-तूरानी-रक्षा के लिए उर्दू बनी थी वैसे ही आज उर्दू की रक्षा के लिए हिंदुस्तानी बन रही है। अंतर केवल इतना है कि उस समय यह कार्य हँसोड़ अमीन खाँ और बसी नूरबाई के द्वारा हुआ था और आज यह कार्य हो रहा है महात्मा गांधी और किसी दिव्य देवी के द्वारा। महात्मा गांधी कुछ भी करते रहें पर इतना तो जान ही लें कि 'उर्दू में हुरूफ की कमी-बेशी' के कारण भी बहुत से प्रचलित शब्द 'ख़राद' पर नहीं चढ़े और और देश में रहते हुए भी उर्दू से निकाल दिए गए। महात्मा गांधी बड़े मधुर शब्दों में लिपि का प्रश्न पी जाते हैं और समझते हैं कि शंकर जी ने हलाहल पान कर सारा अमंगल दूर कर दिया पर जानते इतना भी नहीं कि आगे हो क्या रहा है। सुरा और सुधा का बँटवारा हो कैसे रहा है? क्या हिंदुस्तानी की 'मोहिनी' इसीलिये बनी है? जी, सुधा का तो पता नहीं पर सुरा का परोसा सामने आ रहा। अच्छा यही समझिए कि एक का 'देव' दूसरे का 'दानव' है। कीजिएगा क्या? हिंदी का 'देव' ही उर्दू में 'दानव' हो जाता है। आज अपना संहार अपने ही तो कर रहे हैं! भला मुहम्मद अली जिन्नाह और मौलवी अब्दुल हक़ के पिता किस विलायत से आए थे जो आज सर्वथा हिंदी होते हुए भी हिंदी का विरोध कर रहे हैं और उस उर्दू को ले रहे हैं जिनमें उनका तथा उनके पूर्वजों का नाम धरा गया है?

'कैफी'? पंडित दत्तातिरिया कैफ़ी को पूछ रहे हैं? अजी! बूढ़ा सुग्गा

राम राम नहीं पढ़ता-सो भी बचपन का कुछ और ही पढ़ाया हुआ। सुनिए न, वह क्या बोलता है। यही न?

'मामा और चाचा यह दो रिश्तों के नाम पहले से रायज थे। मामा को मामूँ इसलिये बनाया गया कि फ़ारसी में 'मामा' घर की ख़ादिमा[1] को कहते है। माँ के भाई को ख़ादिमा का नाम देना मुनासिब न था। इसी रिआयत[2] से मामी में भी तबदीली हुई। चूंकि शुमाली[3] हिंद के लहजे[4] में आख़िर कलमा के हुरुफ़ेइल्लत[5] के बाद नूनगुन्ना नाख्वाँदा[6] मेहमान की तरह आ मौजूद होता है इसलिये चाँ चाँ (ग़ुलग़पाड़ा) से बचाने को फ़सहा चचा कहने लगे जिसकी तानीस चाची की जगह सहल क़ायदे के तेहत[7] चची बनी।" (दरियायेलताफ़त पृ० २४३ की पाद टिप्पणी)

'मामा' और 'चाचा' को जिस कारण 'मामूँ' और 'चचा' बनना पड़ा वह आप के सामने है। इससे आप भलीभाँति समझ सकते हैं कि वस्तुतः उर्दू है किस चिड़िया का नाम। उधर तो फारसी की चपेट में पड़कर 'मामा' 'मामूँ' बन गए और इधर गँवारो से भाग निकलने के लिए 'चाचा' 'चचा' बन बैठे। ऐसी स्थिति में कहा नहीं जा सकता कि वर्धा की सच की हिंदुस्तानी क्या रूप धारण करेगी। किंतु जनाब 'कैफ़ी' साहब से सचाई से पूछा जा सकता है कि सच तो कहें 'दत्तात्रेय' का 'दत्तातिरिया' कैसे हो गया। संभव है, डाक्टर अब्दुल हक़ साहब तुरत बोल उठें कि 'उर्दू औरतो की ज़बान है' और औरतो की बोली मे 'तिरिया' नहीं तो और क्या होगा। यही सही, किंतु 'औरतो की ज़बान' यानी उर्दू में इसका अर्थ क्या होगा, कुछ इसको भी तो स्पष्ट करें। हमें इस 'दत्तातिरिया' की चिन्ता नहीं। यह तो अपनी रुचि की बात है कि पंडित बृजमोहन दत्तातिरिया साहब अपने आप को 'कैफ़ी' कहें वा 'तिरिया' किन्तु क्या हमारी इस स्वदेशी बोली मे हमारे मुनिऋषि अथवा आचार्य भी 'दत्तातिरिया' ही कहलायेंगे? महात्मा गान्धी

१—सेविका। २—विचार। ३—उत्तरी। ४—काकु, स्वरसयोग। ५—अल्लिफ़, वाव, याय आदि, अक्षर। ६—अशिक्षित। ७—अधीन।

इस हिन्दुस्तानी की अद्भुत व्याख्या कर सकते हैं परन्तु विश्व उनका साथ नहीं दे सकता। भला कौन ऐसा मूढ़ होगा जो ऋषि 'दत्तात्रेय' को 'दत्तातिरिया' के रूप में ग्रहण करेगा और एक अवतार का इस प्रकार अपमान करेगा ?

'मामा' 'चाचा' और 'दत्तातिरिया' का प्रसंग इस विचार से छेड़ा गया है कि आप प्रकट रूप में देख सकें कि हिंदी-उर्दू का संघर्ष केवल अरबी-फारसी और संस्कृत शब्दों का संघर्ष नहीं है। नहीं, यह तो संघर्ष है प्रवृत्ति अथवा ठसक का। जो लोग बात बात में भाषा के प्रसंग में केवल शब्दों का नाम लेते और राष्ट्रभाषा के प्रसंग में संस्कृत के साथ अरबी का नाम भी जोड़ देते हैं वे भाषा के क्षेत्र में या तो निरे बुद्धू हैं या अद्भुत आचार्य। भला सोचिए तो सही अरबी का यहाँ की किसी भी खड़ी-पड़ी, सड़ी-गली, चलती-फिरती भाषा से कहीं का कोई भी जन्मजात सहज संबंध है। माना कि वह यहाँ के वर्ग विशेष की पोथी की भाषा है और उस पोथी के मूल में पैठने के लिये उसकी भाषा का जानना अनिवार्य है, पर इसी के आधार पर यह भी कैसे मान लें कि उसका भी इस भूभाग पर वही अधिकार है जो संस्कृत का। नहीं ऐसा हो नहीं सकता। वह भले ही भारत की राजभाषा बन जाय पर भारत की राष्ट्रभाषा तो वह होने से रही। और कहें तो सही राष्ट्रभाषा के प्रसंग में आप क्यों उसका नाम लेते हैं। क्या मुसलमान होने के कारण ? अच्छा, लो. सुनो और कहो तो सही कि तुम निरे मुसलमान ही हो कि कहीं तुममें इसलाम भी है। इसलाम के किस आदेश से तुम ऐसा कर रहे हो ? देखो लगभग १३०० वर्ष से कहीं न कहीं थोड़ा-बहुत इसलाम इस देश में चला आ रहा है और लगभग ६०० वर्ष तक यहाँ का प्रमुख बल भी उसी के हाथ में रहा है। इतने वर्षों में जो इसलामी शब्द यहाँ की भाषा में न आ सके आज वे क्यों लाए जा रहे हैं ? क्या उनकी कोई तालिका भी किसी मुसलमान के पास है ? अरे ! भाई ! जिन अरबी शब्दों में इसलाम था उनका प्रचार इसलाम के साथ हो गया अब तुम उस काफिरी भाषा के चक्कर में

क्यों पड़े हो जिसमें इसलाम नहीं अरब की शान है। और यदि चाहते हो तो उसे इसलाम के भीतर ही रक्खो। निरीह जनता पर उसे क्यों लादते हो? है कुछ इसलामी अल्लाह का आदेश जो तुमसे ऐसा कुछ कराता है? नहीं, अरबी के आधार पर हिंदुस्तानी चल नहीं सकती और न उससे एक भी नया शब्द गढ़ने का उसे अधिकार है। वैसे महात्मा गान्धी और अल्लामा सुलैमान की इच्छा।

'फारसी' के विषय में भी हमारा यही मत है और यही मत होगा विश्व के स्वतंत्र मननशील व्यक्तियों का मत। फारसी इतने दिनों तक यहाँ की राज-भाषा रही। उससे जो कुछ आने का था आ चुका। अब कोई कारण नहीं रहा कि हम एक भी नया शब्द उससे बनाएँ। हाँ, बनाएँ, गढ़े नहीं। कारण यह कि भाषाशास्त्र की दृष्टि से ईरानी का तो यहाँ की भाषाओं से कुछ लगाव है पर अरबी का तनिक भी नहीं। अरबी तो किसी और वंश की भाषा है।

हाँ, यहाँ इतना और जान लें कि प्रश्न पुराने शब्दों का नहीं, नये शब्दो के लेने का है। सो हमारा कहना है कि नये शब्द तभी फारसी या अरबी से लिये जा सकते हैं जब उनमें अपनी कुछ नवीनता हो और अपने साथ अपने राष्ट्र का जीवन लिये हुए हों कुछ यह नहीं कि किसी विदेशी भाषा से किसी टकसाल में ढाल लिये गए हों और लादे जा रहे हों भारत की राष्ट्रभाषा के हृदय पर अपना लद्दू छकड़ा चलाने के लिये। ऐसा आज किसी भी इसलामी या अनिसलामी देश में नहीं हो रहा है फिर यह उपद्रव यहीं क्यों हो? रही अरबी-फारसी शब्दों की बात। सो लेखक और वक्ता की इच्छा। वह जैसी भाषा का चाहे प्रयोग करे। यदि उसमें इतनी क्षमता नहीं कि वह अपने सामाजिकों को समझ सके तो आप की अनोखी पगडंडी पर चलकर वह जनता का मैदान नहीं मार सकता। उसको अपनी भाषा में लिखने दीजिए शक्ति होगी जीवित रहेगा। अशक्त होगा मर जायगा। यही तो यहाँ का क्रम है? फिर इसकी चिंता क्या? विश्व यदि सपाट हो जाय तो उसका सारा आनंद जाता रहे। बस, वाणी के विधाता न बनो उसे स्वतंत्र

अपने पाट पर बहने दो। शब्द की परख कवि को होती है किसी कोश को नहीं। कोश काम चला सकता है राष्ट्र नहीं। राष्ट्र कभी नहीं उस कोश से बली हो सकता जो उसका अपना नहीं। उधार लेना पतन है पचा लेना पराक्रम और पकड़ जाना विनाश। बस, लेने की बात छोड़ो, पचाने का अभ्यास करो, और आये हुए शब्दों को ऐसा अपनाओ कि फिर कभी उन्हें भागकर कहीं और जाने की सुधि न रहे और सर्वथा अपने अनुशासन में आ जायँ। अरे ! बड़े बड़े पंडित बता नहीं सकते कि अमुक शब्द का इतिहास अमुक है तो किसी हिंदुस्तानी छैला की बात ही क्या जो भाषा के क्षेत्र में सदा यही पढ़ेगा कि यह भी नहीं, वह भी नहीं। विश्वास रखिए, इसका परिणाम होगा कुछ भी नहीं, और इसका फल निकलेगा 'संशयात्मा विनश्यति।' 'दुविधा में दोऊ गए माया मिली न राम।' बस, समझ लिया न ?

हाँ, अवश्य ही संस्कृत के आधार पर राष्ट्रभाषा खड़ी होगी। इसलिए नहीं कि वह यहाँ की धर्म-भाषा है। नहीं, सच पूछिए तो कोई भी भाषा धर्म की भाषा नहीं होती। किसी भी भाषा को धर्म-भाषा के रूप में ग्रहण करना उसका उपहास करना है। संस्कृत का नाम हम धर्म के कारण नहीं प्रत्युत इतिहास, विचार और भाषाशास्त्र के कारण लेते हैं। संस्कृत का यहाँ की देशभाषाओं से जो सम्बन्ध रहा है उसको कौन नहीं जानता। वह किसी की माता है तो किसी की दाई। सभी उसी का दूध पीती हैं और दूध भी ऐसा जो समस्त विज्ञान का दाता है। क्या आप से यह भी कहना होगा कि आज समस्त संसार जो स्वतंत्र चिन्तन कर रहा है वह सीधे उसी कुल की भाषाओं में व्यक्त हो रहा है जिसका प्राचीनतम ग्रंथ हमारे पास है और सौभाग्य से नहीं विचार से उसका नाम भी है वेद–ज्ञान। बस, आज का विज्ञान भी इसी कुल से शब्द लेता और बनाता है। यूरोप ग्रीक और लैटिन की शरण लेता है और भारत संस्कृत तथा प्राकृत की। और प्रसन्नता तथा पते की बात तो यह है कि ग्रीक लैटिन तथा संस्कृत में प्रायः वही सम्बन्ध है जो यहाँ की समस्त देशभाषाओं में। हाँ, द्रविड़-भाषाओं का भेद अवश्य

उठ खड़ा होता है पर नाक कटाने के लिए नहीं प्रत्युत और भी शक्ति-बढ़ाने के लिए। विविधता से शोभा बढ़ती है किन्तु एकता में ही, अनेकता में नहीं।

इतना सुनना था कि कहीं से डाक्टर ताराचंद बोल पड़े—अरे! हमे क्यों भूल रहे हो? सो कहना है—भैया! तुम्हें भी कोई भूल सकता है? सचमुच तुम तो अमर हो—अमर नहीं, देवता। समझे न? किंतु एक बात अपनी भी मान लो। कहते हो-"संस्कृत में छ कारक हैं, हिंदी उर्दू मे दो या तीन।" कहते तो ठीक ही हो पर समझते इतना भी नही कि 'हिंदी उर्दू में दो कारक' मानने से काम नहीं चलेगा। बस, तुम्हें तो मानना होगा हिंदुस्तानी में तीन कारक—महात्मा गांधी, मुसलिम देवता अल्लामा सुलैमान नदवी और स्वयं डाक्टर ताराचंद। बस. इसीसे तुम्हारा हिदुस्तानी का तिकड़म चलेगा, कुछ दो कारक मान लेने से नहीं। कारक को हिदुस्तानी में क्या कहेंगे यह हम नहीं जानते पर ताराचंद को संस्कृत में कहेंगे ताराचन्द्र इसमे संदेह नहीं। तो क्या 'ताराचंद' के जीते हुए संस्कृत सचमुच मर गई? अजी! कहाँ की बात करते हो? 'तारा' संस्कृत है तो 'चंद' प्राकृत। बस, कोई कुछ भी बकता रहे पर भारत का नाम चलेगा इसी संस्कृत और प्राकृत से—तत्सम और तद्भव से, कुछ किसी बनावटी हिन्दुस्तानी से कदापि नहीं।

१६—व्यवहार में हिंदी

सरकार कितने दिनों से बार-बार बराबर यही कहती आ रही है कि कचहरियों और दफ्तरों का काम-काज सदा ऐसी सरल और सुबोध बोलचाल की भाषा में हो जो अपढ़ जनता की समझ में भी आ सके और उनमें ऐसी लिपि का व्यवहार हो जो जनता की चिर परिचित सुगम लिपि हो, पर देखने में यह आ रहा है कि हाकिमो की उपेक्षा, वकीलों की असावधानी, मुंशियों की पेट-पूजा और अहलकारों की कूट लीला के कारण युक्तप्रांत में कुछ और ही भाषा और और ही लिपि

का बोल-बाला है। यहाँ की कचहरियों में जो भाषा बरती जाती है वह सचमुच कहाँ की देश-भाषा है, इसका पता आज तक न तो सरकार को ही चल सका और न उसकी प्राण-प्रिय प्रजा को ही; फिर भी उसका व्यवहार बराबर हो रहा है। कारण यह है कि उसके उपयोग से प्रांत की पढ़ी-लिखी साक्षर जनता भी सदा सरकारी लोगों की मुट्ठी में बनी रहती है और कभी भूलकर भी उनको धता नहीं बता सकती। यदि कभी किसी ने अपनी बहुमुखी विद्या के बल पर कुछ साहस किया भी तो शिकस्ता लिपि ने चट उसे पछाड़ दिया और अंत में हारकर विवश हो मुंशी जी की शरण में जाना ही पड़ा। तभी तो यह एक स्वर से कहा जाता है कि सचमुच कचहरी के राजा तो मुंशी जी हैं, साहब लोग तो उनके हाथ के खिलौने हैं।

इधर जनता कुछ जगी और अपने अधिकार के लिये आगे बढ़ी तो तरह-तरह के जाल रचे गये और प्रायः यह कहा जाने लगा कि हिन्दी और नागरी से सरकार का कोई सरोकार नहीं। अर्थात् युक्त-प्रांत की सरकार तो उर्दू ज़बान और फ़ारसी लिपि को अपनाती है कुछ हिंदी भाषा और नागरी लिपि को नहीं। उधर ऐसे महानुभावों की भी कुछ विभूति जगी है जो लगातार कितने रूपों में इसी की रट लगाते हैं कि उर्दू सदा से कचहरियों की भाषा रही है और आज द्वेषवश कुछ 'आरिया' अथवा 'सभाई' लोग ही उसे हटाकर उसकी जगह एक बनावटी भाषा यानी हिन्दी को चालू करना चाहते हैं। इस प्रकार कुछ घुड़की, कुछ धमकी और कुछ पक्षपात के पंजे से बच भागने के लिए लोग चुप-चाप अपनी भाषा और अपनी लिपि को तिलांजलि दे उर्दू का दम भरते और दफ्तरों की सतबेझड़ी बोली को अपनाते हैं। उदार हाकिम भी प्रमादवश मौन रह जाते और क्रूर हाकिमों को और भी खुल खेलने का अवसर देते हैं। निदान यह उचित जान पड़ा कि युक्तप्रांत की सरल जनता को इस बात से खूब सचेत और भलीभाँति सावधान कर दिया जाय कि भविष्य में वह कभी इस प्रकार के चक्कर में न पड़े और अपने भाषा-संबंधी अधिकार से अभिज्ञ हो उसकी प्राप्ति के लिए

पूरा प्रयत्न करे। और यदि कहीं से किसी प्रकार की कोई अड़चन उसके सामने आये तो उसकी सूचना सरकार तथा समस्त देश को दे और फिर देखे कि उसका साधु साहस कितना शीघ्र सफल होता है-मुंशी जी कैसे तुरत उसका काम उसकी भाषा में कर देते हैं। अच्छा तो दूर की बात जाने दीजिए। लीजिए अभी उस दिन कंपनी सरकार ने कहा था—

"इस आईन के ३ दफे के जिलों (अलीगढ़, सहारनपुर, आगरा और बुन्देलखंड) के जज साहिब और मजिसटरट साहिब को लाजिम है के जिस वकत इस आईन का फारसी या हिंदी तरजमा उनके कने पहुँचे तो उसके तईं अपनी कचहरीयों मे पढ़वावे और मशहूर करें और इसी तरह से जिन आइनों ने के इस आईन के रूस्स से उपर के जिलों में चलन पाई है उनका तरजमा भी पढ़वावें और मशहूर करें और ३ दफे के जिलो की दीवानी अदालत के वकीलों को हूकम है के जौन सी आईन के उपर के जिलों की दीवानी अदालत के मोकददमों से किसु-किसु तरह का इलाका रखना है तो उस आईन के तरजमे की नकल लेकर अपने पास रख छोड़े बलके जज साहिब और मजिसटरट साहिबों को यह भी जरूर है के जो नकलें सन् १८०३ की ४६ आईन के १० दफे के रू से शहरों और अपने जिलों के काजियो को देवें इसी तरह पर छोटे बड़े के खबर के लिऐ मोनसिफों की कचहरियों में के वे मोनसिफ सन् १८०३ की १६ आईन के मोवाफिक ठहरे हैं और ऐसे ही तहसीलदार और दारोगों की कचहरियों में के ३५ आईन के रू से पुलीस का इखतेयार उनको दिया गया है पढ़वावे और मशहुर करवावें और जाना जावे के जेतनी आईन के आगे चल के बनेंगी इस काऐदे के मोवाफिक इसी तरह पर शोहरत पावेंगी और पाऐ हुऐ और फतह किऐ मूलकों के सब महलों में चलन पावेगी।" (अँगरेजी सन् १८०५ साल ८ आईन ३१ दफा)

कंपनी-सरकार के इस आईन को सामने रखकर ध्यान से देखिए और कहिए कि भाषा के विषय में कंपनी-सरकार की नीति क्या है

और वह किस भाषा और किस लिपि का व्यवहार किस दृष्टि से चाहती है। 'फ़ारसी तरजमा' के बारे में तो इतना जान लीजिए कि वस्तुतः फारसी ही उस समय की राजभाषा थी और उसी में शाही काम-काज होते थे। रही 'हिंदी' की बात, सो उसके संबंध में इतना मान लीजिए कि हिंदी से कंपनी-सरकार का तात्पर्य है हिंदी-भाषा और हिंदी-अक्षर—कुछ उर्दू-भाषा और फारसी-अक्षर नहीं। कंपनी-सरकार की निश्चित नीति तो यह है कि दरबारी लोगों की जानकारी के लिए फारसी-भाषा और फ़ारसी-लिपि का व्यवहार करो और सामान्य जनता के उपयोग के लिए नागरी-भाषा और नागरी-लिपि का। एक आईन में साफ़-माफ़ नागरी-भाषा का विधान कर यह स्पष्ट दिखा दिया गया है कि कम्पनी-सरकार की हिंदी का अर्थ है नागरी-भाषा और नागरी-अक्षर ही—कुछ उर्दू-भाषा और नागरी-लिपि अथवा हिंदी-भाषा और फ़ारसी-लिपि नहीं। प्रमाण के लिए तुरत देखिए। उसका स्पष्ट निर्देश है—

"किसी को इस बात का उजूर नहीं होऐ के उपर के दफे का लिखा हुकुम सभ से वाकीफ नहीं हैं। हरी ऐक जिले के कलीकटर साहेब को लाजिम है के इस आइन के पावने पर ऐक-ऐक केता इसतहारनामा नीचे के सरह से फारसी वो नागरी भाषा के अछर में लीखाऐ कै अपने मोहर वो दसतखत से अपने जिला के मालीकान जमीन वो ईजारेदार जो हजुर में मालगूजारी करता उन सभो के कचहरि में वो अमानि महाल के देसि ताहसीलदार लोग के कचहरि में भी लटकावही...वो कलीकटर साहेब लोग को लाजीम है के ईसतहारनामा अपने कचहरी मो वो अदालत के जज साहेब लोग के कचहरि मे भी तमामी आदमी के बुझने के वास्ते लटकावही।" (अँगरेजी सन् १८०३ साल ३१ आईन २० दफा)

विचार करने की बात है कि जिस उर्दू-भाषा और फ़ारसी-लिपि के लिए आज इतना ऊधम मचाया जा रहा है उसका उल्लेख कहीं भी किसी भी आईन में नहीं है; यदि है तो फ़ारसी-भाषा और फ़ारसी-

लिपि एवं हिंदी-भाषा और नागरी-लिपि का ही। उर्दू-भाषा और फ़ारसी-लिपि का विधान तो तब हुआ जब मुगलों की भाषा फारसी दरबार से उठ गई और उसकी जगह अँगरेजी राज-भाषा बनी। दिल्ली के मुगल दरबार में जो उर्दू ईजाद हुई वही दीवानी के नाते कलकत्ता के फिरंगी-दरबार को भी मोहने लगी। किंतु फारसी के कारण जनता को जो कष्ट उठाना पड़ता था उसको देखकर कंपनी-सरकार ने निश्चित किया कि फारसी कचहरियों से बिदा कर दी जाय, पर स्थिति की कठोरता के कारण उसे कुछ इधर-उधर करना ही पड़ा और फलतः आज तक वह उर्दू की ओट में कुछ इधर उधर बनी रही।

उर्दू कचहरियों में सहसा कैसे कूद पड़ी, इसका कुछ पता इस आज्ञा से चल जाता है—

"सदर बोर्ड के साहबो ने यह ध्यान किया है कि कचहरी के सब काम फारसी ज़बान में लिखा-पढ़ा होने से सब लोगों को बहुत हर्ज पड़ता है और बहुत कलप होता है, और जब कोई अपनो अर्ज़ी अपनी भाषा में लिख के सरकार में दाखिल करने पावे तो बड़ी बात होगी। सबको चैन आराम होगा। इसलिए हुक्म दिया गया है कि सन् १२४४ की कुवार वदी प्रथम से जिसका जो मामला सदर-बोर्ड मे हो सो अपना-अपना सवाल अपनी हिंदी बोली मे और पारसी कै नागरी अच्छरन मे लिख के दाखिल करै कै डाक पर भेजै और सवाल जौन अच्छरन में लिखा हो तौने अच्छरन मे और हिंदी बोली में उस पर हुक्म लिखा जायगा।" (मिति २९ जूलाई सन् १८३६ ई०)।

हिंदी बोली के साथ पारसी अक्षरों का विधान हो गया, पर अभी किसी उर्दू का नाम नहीं आया। क्यों? कारण जो हो, पर उधर फोर्टविलियम कालेज में उसके मुंशी जम गये थे और 'हिंदोस्तानी' की ओट में उर्दू का प्रचार डटकर कर रहे थे। इससे हुआ यही कि इधर फोर्टविलियम सरकार ने फारसी से ऊबकर यह आज्ञा निकाली कि धीरे-धीरे फारसी की जगह देशभाषाओं को चालू किया जाय तो उधर फोर्टविलियम कालेज (स्थापित सन् १८०० ई०) ने यह पाठ पढ़ाया कि हिंदी हिंदुओं

की भाषा है जो गाँवों में बोली जाती है। निदान हिंदुस्तान की शिष्ट भाषा वह हिंदुस्तानी समझी गई जो दरबार में बरती जाती थी। डाक्टर गिलक्रिस्ट ने इसी दरबारी भाषा को उर्दू कहा है, और मीर अम्मन देहलवी ने इसी को 'सौदा-सुल्फ' लेन-देन की। स्मरण रहे कि उर्दू को 'बाजार' या 'लश्कर' की बोली इन्हीं महोदय ने कहा है, नहीं तो उर्दू सदा मानी जाती थी 'उर्दू' यानी दरबार की ही भाषा। हाँ, तो सन् १८३७ ई० के ऐक्ट में देश-भाषाओं को महत्त्व मिला है किसी दरबारी उर्दू को नहीं। ध्यान से देखें। वह ऐक्ट है कि—

"It is hereby enacted that from the First day of December 1837, it shall be lawful for the Governor-General of India in Council, by an Order in Council, to dispense either generally, or within such local limits as may seem to him meet, with any provision of any Regulation of the Bengal Code, which enjoins the use of the Persian language in any Judicial proceeding relating to the Revenue and to prescribe the language and character to be used in such proceedings." (Act No. XXIX of 1837, passed on the 20th November, 1837.)

इसका सीधा-सादा अर्थ है कि हिंदुस्तान के गवर्नर-जनरल साहब अपनी कौंसिल के साथ यह निश्चित कर लें कि किस देश के किस भाग से किस अंश में फारसी-भाषा माल-विभाग और दीवानी से निकाल दी जाय और उसकी जगह कौन-सी भाषा और कौन-सी लिपि चालू की जाय। ऐक्ट कितना सीधा था पर उसका काम कितना टेढ़ा हो गया। उसके अनुसार फारसी के उठ जाने पर स्वभावतः हिंदी-भाषा और नागरी-लिपि का बोलबाला हो जाता। पर भारत-सरकार को यह बात रुची नहीं। रुचती भी कैसे? फारसी के लिए मर-मिटनेवाले भी कम न थे और उस समय वह थी भी दिल्ली के अधीन ही। निदान हुआ यह कि मुसल्मानों की अपनी वाणी जाती रही और उनको हिंदी बोली और नागरी लिपि की जगह मिल गई मुगली बोली और फारसी

लिपि को। सो कैसे, तनिक इसे भी देख लें। युक्तप्रान्त की सदर दीवानी अदालत ने इसके दो वर्ष बाद एक सरक्यूलर निकाला जिसमे कहा गया कि —

"The Court direct that, from the 1st of July next, the use of Persian in all civil proceedings, pleadings, petitions and writings of whatsoever description, both in your own and the subordinate courts, be abandoned and the Hindoostanee substituted in lieu of it,—this rule not being, however, construed to prohibit parties, who may desire it, from presenting, nor the Judge from receiving, such Hindoostanee pleadings, petitions and other writings, with the accompaniment of a Persian translation." (No. 33, dated 12th April, 1839)

यहाँ तक तो कोई बात न थी क्योंकि इसमें फारसी की जगह हिंदुस्तानी को दी गई थी और यह मान लिया गया था कि यदि हिंदुस्तानी के साथ उसका फारसी उलथा भी दे दिया जाय तो कोई क्षति नहीं। पर इसके आगे जो उर्दू का उल्लेख किया गया वह हिंदी के लिए घातक सिद्ध हुआ। उर्दू किसी हिंदी-लिपि में कब लिखी गई ? बस उसमें तो कहा गया कि सरकार चाहती है कि साफ और सुबोध उर्दू मे कचहरी के काम-काज का विशेषतः सूत्रपात हो। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस विधान में यद्यपि उर्दू के साथ ही साथ कहीं-कहीं के लिए हिंदी बोली का भी विधान कर दिया गया है तथापि सच पूछिए तो वस्तुतः इसने हिंदी-भाषा और हिंदी-लिपि की हत्या कर मुगली-भाषा और मुगली-लिपि का प्रचार कर दिया है। कारण, इस प्रकार उसने जो हिंदुस्तानी का ढोंग किया और फारसी को निकाल बाहर करने का जो उपाय रचा वह सब हिंदी के सिर पड़ा और फलतः उसी का सर्वनाश हुआ। देखिए न, सदर दीवानी अदालत ने कहा कि हिंदी जहाँ वह प्रचलित है। 'प्रचलित' और 'जहाँ' का अर्थ ? वह तो घर घर बरती है। तो भी सरकार का कहना है —

"It is the wish of Government that care should be taken especially on first introducing the measure, that the pleadings and proceedings be recorded in clear intelligible Oordoo, (or Hindee where that dialect is current,) and that the Native ministerial officers, hitherto accustomed to write a somewhat impure Persian, do not merely substitute a Hindoostanee for a Persian verb at the end of a sentence, under the mistaken idea that such a practice will be considered as fulfilling every object in view in making the change." (वही)

सदर दीवानी अदालत ने यह तो जान लिया कि लोग किस प्रकार लिया-दिया आदि को जोड़ कर फारसी को उर्दू बना लेते हैं पर वह यह न जान सकी कि यह उर्दू कभी फारसी को छोड़कर लोक-वाणी की पटरी पर चल नहीं सकती। तभी तो उसने जान-बूझकर हिंदी की जगह हिंदुस्तानी यानी उर्दू को चालू किया ? इसका कारण चाहे जो हो, पर इतना तो प्रत्यक्ष ही है कि उसको उर्दू से पूरा पड़ता नहीं दिखाई देता है और इसी से वह सरल और सुलझी रीति की चेतावनी देती है। पर क्या कभी यह संभव है ? नहीं, उर्दू तो फारसी-प्रिय लोगों की प्रसन्नता के लिए मैदान में आई है और इसी से हिंदुस्तानी की आड़ में वह हिंदी का शिकार करने में लगी है।

हाँ, तो माल के सदर बोर्ड ने भी दीवानी का साथ दिया। उसने भी कह दिया कि बोर्ड का प्रस्ताव है कि फारसी-लिपि बनी रहे। सो इस प्रकार अब हम देखते हैं कि युक्तप्रान्त की सदर दीवानी अदालत और माल के सदर बोर्ड ने मिलकर नागरी को नष्ट करने का उपाय रचा और फारसी की जगह उर्दू का प्रचार कर हिंदी-उर्दू का एक नया प्रपंच खड़ा किया। अच्छा, तो सदर बोर्ड की उक्त विज्ञप्ति है कि जहाँ कहीं नागरी जमी है वहाँ वह चले पर उसको छोड़कर अन्यत्र फारसी लिपि ही बनी रहे। भाषा गई पर लिपि नहीं। यही तो न्याय है !

"The Board propose that the Persian character shall be

retained, except in those very few districts in which the Nagree has obtained and established an almost universal currency" (No III, dated 28th August, 1840.)

अतः हम देखते हैं कि वस्तुतः बोर्ड के सामने फारसी-लिपि की रक्षा का प्रश्न है कुछ लोक-लिपि के प्रचार और लोक-वाणी के व्यवहार का उद्योग नहीं। बोर्ड की दृष्टि में यह उचित जान पड़ता है कि फारसी-लिपि रहने दी जाय और केवल वहीं से वह हटाई जाय जहाँ नागरी का व्यापक प्रचार और बोलबाला हो गया है। तनिक विचार करने की बात थी कि जनता की लिपि फारसी किस प्रकार कही जा सकती थी और क्योंकर प्रजा के हित के विचार से उसका व्यवहार किया जा सकता था। परन्तु बोर्ड ने किया यह कि फारसी-लिपि की रक्षा की ठान ली और फलत आज तक उसके प्रताप से वहाँ फारसी-लिपि और फारसी-भाषा की प्रधानता बनी है। उसके व्यवहार में देश की खरी भाषा कहाँ है? उसकी भाषा तो बिगड़ी फारसी या मुगली ही है। देश से उसका कौन-सा सीधा लगाव है कि वह बरबस जनता के गले उतारी जाती और उसके व्यवहार की लिपि बताई जाती है? सच बात तो यह है कि यदि वस्तुतः सरकार लोक का कल्याण चाहती और किसी अपनीति का सहारा न लेती तो कचहरियो मे उर्दू को कभी जगह न मिलती और अँगरेजी शासन मे हिंदियों के हित के लिए फारसी के मदरसे न खुलते। आज जो चारों ओर उर्दू का झंडा फहराया जा रहा है वह और कुछ नहीं, इसी आग का धुआँ है जो धीरे-धीरे इतने दिनो से बड़ी सावधानी के साथ सुलगाई जा रही थी और फलत. आज भी राष्ट्र-जीवन का दम घोटने के लिये पर्याप्त समझी जाती है। पर इसमें दोष किसका है? सरकार नहीं, आप का।

कचहरियों और सरकारी काम-काजों मे उर्दू कैसे और किस ओर से घुसी, इसका रंचक आभास तो मिल गया, अब थोड़ा यह भी देख लेना चाहिए कि सरकार इस भाषा के विषय में बराबर कहती क्या आ रही है और उसके कचहरिया बाबू उसकी सुनवाई कहाँ तक करते आ

रहे हैं। माल के सदर बोर्ड ने उसी समय स्पष्ट कह दिया था कि सरकार फारसी से लदी उर्दू को नहीं पसन्द करती। उसकी दृष्टि में तो उस भाषा का व्यवहार होना चाहिए जो किसी शिष्ट सज्जन की समझ में जो फारसी से सर्वथा अनभिज्ञ हो, सरलता से आ जाय। परंतु बोर्ड की बात अनसुनी कर दी गई। उसने कहा था कि न केवल हिंदी क्रिया और हिंदी प्रत्ययों का प्रयोग किया जाय बल्कि उसकी पद-योजना भी हिंदी हो और उसे फारसी से सर्वथा अनभिज्ञ व्यक्ति भी समझ ले —

"You should therefore explain to the officers under your control that it is not the mere substitution of Hindee verbs and affixes which the Board wish to see adopted. They desire that every paper shall be written in the phrase in which a well spoken respectable man, altogether unacquainted with Persian, would express himself." (वही)

अस्तु, कहा गया था कि गँवारू बोली नहीं, शिष्ट भाषा को जगह दी जाय, पर उसका अर्थ लगाया गया कि कभी जनता की वाणी को जगह न मिले। कचहरिया बाबुओं की दृष्टि में उर्दू के सिवा शिष्ट हो ही कौन सकता है कि उसकी भाषा को प्रमाण माना जाय! नतीजा यह निकला कि अभी तक इस प्रांत की सरकारी हिंदुस्तानी भाषा बिगड़ी फारसी अथवा दरबारी उर्दू ही रह गई। वह दिल्ली के कुलीन मुसलमानों की ज़बान भी न बन सकी। बिहार आदि प्रांतों में जहाँ हिंदी को जगह मिली, वहाँ से भी यह गड़बड़झाला दूर नहीं हुआ, किसी न किसी रूप में चलता ही रहा, और आज तो न जाने कहाँ से बल पाकर और भी उभर आया है। खैर, कुछ भी हो, कहना तो यह है कि सरकार ने उर्दू को बसाकर जनता को उजाड़ दिया और पढ़े लिखे सच्चे नागरिकों को भी पक्का जपाट बना दिया। कचहरी के शिकस्ता कागदों ने किसको परास्त नहीं किया! स्वयं सरकार को भी!

दीवानी और बोर्ड की आज्ञायें निकलती और रद्दीखाने की टोकरी

की शोभा बढ़ाती रहीं। कचहरी में उर्दू का जाल बिछा तो जनता कागज पढ़ने के लिए, उर्दू के पीछे पड़ गई। चारो ओर उर्दू के मदरसे खुलने लगे और गँवारू हिंदी को गाँवों से भी विदाई मिलने लगी। जिसके हृदय मे राष्ट्र की भावना काम कर रही थी और जो निरीह जनता की बोली को समझता था वह यह कपटलीला कहाँ तक देख सकता था। निदान राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद मैदान में आये और कचहरियों मे हिंदी का प्रचार करना चाहा। चाहते तो वस्तुतः वे सरल उर्दू ही थे, पर प्रचार नागरी-लिपि का करना चाहते थे, जिससे व्यथित होकर सर सैयद अहमद खाँ बहादुर ने खतरे की घंटी बजाई, जो आज क़यामत के मुँह से बोल रही है और बातो मे उलझाकर जनता की वाणी को सहसा मिटा देना चाहती है। इसके लिए उर्दू कहीं मेल-जोल की मिठाई बताई जाती है तो कहीं जिहाद करने के लिए 'नबी की ज़बान।' आये दिन रंग बदलना तो उसका धर्म हो गया है। पर सच्ची बात यह है कि वह जैसे-तैसे फारसी को पालना और उसके बंदो का पेट भरना चाहती है, कुछ हिंदियों को पार लगाना नहीं। यही कारण है कि जब कभी कचहरी की भाषा को सरल और सुबोध बनाने का प्रश्न छिड़ता है तब वी उर्दू चिटक जाती हैं और उसका मुँह खोल; कर विरोध करती हैं। सरकार भी इस हो-हल्ला से तंग आकर अपनी जान बचाती और कचहरी की भापा मे कोई परिवर्त्तन नहीं करती है। गत सौ वर्ष इसके बोलते प्रमाण हैं। उनके आधार पर यह प्रत्यक्ष दिखाया जा सकता है कि वास्तव में उर्दू क्या है और उसका प्राण कहाँ बसा है और सरकार क्यो जो कहती है उसे पूरा नहीं करती।

जो हो, कोसने अथवा व्यर्थ के विवाद से काम न चलेगा। यदि प्रमाद से, हमारी भूल से, वितंडा से, नीति से अथवा किसी भी लग्गू-बज्झू कारण से हिंदी की जगह उर्दू चालू कर दी गई और उसे फारसी की पटरी पर रपटने के लिए छोड़ दिया गया तो कोई बात नहीं। जो लोग उसके प्रेमी हैं, शौक से उसे गले लगायें, पर कृपया भूल न जायें कि इस देश की वाणी भी अभी इसी देश में जीवित है। घर-बाहर

सभी जगह कण-कण से बोल रही है। सरकार ने उसी को महत्त्व दिया है। कचहरियों और दफ्तरों में उसी के शिष्ट रूप को स्थान मिला है। फिर जो लोग अपने कागदों में उसकी सच्ची प्रतिष्ठा देखना चाहते हैं उनकी अवहेलना क्यों होती है और उन्हें फटकार किस बूते पर बताई जाती है? क्या कायरता और कुपूतता के अतिरिक्त और भी कोई कारण हो सकता है? नहीं। क्योंकि हम भली भाँति जानते हैं कि सरकार ने सरल और सुबोध शिष्ट भाषा को ही अपनाया है और इसी लिए बार-बार इस बात का आग्रह भी किया है कि कचहरियों और सरकारी दफ्तरों में वही भाषा बरती जाय जो फारसी से सर्वथा अनभिज्ञ शिष्ट समाज के व्यवहार में हो अथवा उनकी समझ से बाहर की न हो और पारिभाषिक शब्दों को छोड़कर बिलकुल बोलचाल की हिंदुस्तानी यानी शिष्ट खड़ीबोली हो। साथ ही लिपि का प्रश्न भी हल कर दिया है। उसने स्पष्ट घोषणा कर दी है कि लिपि के व्यवहार में जनता स्वतंत्र है। वह चाहे फारसी-लिपि का व्यवहार करे, चाहे नागरी-लिपि का प्रयोग, सरकार की ओर से इसमें किसी प्रकार की अड़चन न होगी। फिर भी देखने में यह आता है कि सरकारी कर्मचारी अपनी ओर से कभी-कभी कोई न कोई बाधा उठाते रहते हैं और अहलकारों के चकमे में आकर हाकिम भी कुछ बेढंगी और हिंदी के प्रतिकूल बातें कर जाते हैं। निदान जनता को विवश हो फिर उसी बहुरंगी उर्दू की शरण लेनी पड़ती और अपनी प्राण की कमाई को पानी की भाँति बहाना पड़ता है। केवल कागद पढ़ने के लिए जो पैसे ऐंठे जाते हैं उनकी मात्रा कुछ कम नहीं होती। अतएव यहाँ यह दिखाया जा रहा है कि सरकार नागरी को अपनाने के लिए तैयार है और उसके सभी कर्मचारी नागरी अपनाने को विवश भी हैं। उन्हें सरकार को विश्वास दिलाना पड़ता है कि वे नागरी जानते हैं। यदि यह सिद्ध हो जाय कि उन्हें नागरी का ज्ञान नहीं है तो अंत में उन्हें नौकरी से हाथ धोना पड़े। फिर भला उनमें इतना बल कहाँ कि जनता की लिपि की उपेक्षा कर उसके जन्म-सिद्ध अधिकार की अवहेलना करें। पर यह तभी संभव है जब

जनता दिलेरी और साहस के साथ अपने अधिकार के लिए अधिकरण अथवा कचहरी में अड़ जाय और नागरी के अतिरिक्त और किसी को न अपनावे।

पहले कहा जा चुका है कि सन् १८६८ ई० में राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद ने कचहरियों में नागरी के प्रवेश के लिए प्रयत्न किया पर उनको सफलता न मिली। उन्हीं की भाँति बहुतों ने जब-तब छिट-फुट यत्न किया, पर सभी असफल रहे। अंत में महामना पंडित मदनमोहन मालवीय मैदान में आये और एक अत्यंत व्यवस्थित ढंग से इस काम को हाथ में लिया। एक ओर तो उन्होने नागरी के पक्ष में हस्ताक्षरो की योजना की तो दूसरी ओर बहुत-सी सामग्री सचित कर 'कोर्ट कैरेक्टर एण्ड प्राइमरी एजुकेशन' नाम की पुस्तक लिखी। इन सामग्रियों को हाथ में लेकर प्रान्त के प्रतिष्ठित व्यक्तियों के मंडल के साथ छोटे लाट साहब से मिले और उनकी सरकार को समझा-बुझाकर अपने पक्ष मे कर लिया। अन्त में १८ अप्रैल सन् १९०० ई० को सर ए० पी० मैकडानल ने एक विज्ञप्ति निकाल दी, जिससे कचहरियों में नागरी को भी स्थान मिल गया। फिर क्या था ? देश के मुगली लोगों ने ऐसा ऊधम मचाया कि उसका कुछ ठिकाना नहीं। जगह-जगह पर सभायें की गई, जगह-जगह से प्रस्तावों की बौछार आई, पर लाट साहब तनिक भी विचलित न हुए और अंत में बड़े लाट साहब की अनुमति से यह आईन बन गया कि सभी लोग अपनी अर्जी या शिकायत की दरख्वास्त चाहे नागरी या फारसी-लिपि मे दे सकते हैं और सभी कागद जैसे समन आदि जो सरकार की ओर से जनता के लिए निकाले जायँगे, दोनो लिपियो में यानी नागरी और फारसी-लिपि में लिखे अथवा भरे होंगे। सरकार ने इसके साथ ही इस बात का भी प्रबंध कर दिया कि आगे किसी भी व्यक्ति को तभी सरकारी नौकरी मिल सकेगी जब वह हिंदी और उर्दू दोनों ही भाषाओं को जान ले और जो कर्मचारी अभी हिंदी नहीं जानते हैं, वर्ष भर में वे उसे अवश्य सीख लें अन्यथा नौकरी से अलग कर दिये जायँगे। अच्छा तो वह आईन है—

I. All persons may present their petitions or complaints either in the Nagri or in the Persian character, as they shall desire.

II. All summonses, proclamations, and the like in vernacular, issuing to the public from the courts or from Revenue officials, shall be in the Persian and the Nagri characters, and the portion in the latter invariably be filled up as well as that in the former.

III. No one shall be appointed, except in a purely English office, to any ministerial appointment after one year from the date of this Resolution unless he knows both Hindi and Urdu; and any one appointed in the interval who knows one of these languages but not the other, shall be recquired to qualify in the language which he does not know within one year of his appointment.

(नं० ५८५/३-३४३ सी ६८, १९०० संशोधन के साथ) .

नागरी को स्थान मिला तो सही, पर कर्मचारियों के साथ जो उदारता का व्यवहार किया गया वह हिंदी के लिए घातक होता रहा। कभी किसी हाकिम की शिकायत सरकार के पास पहुँचती थी तो कभी किसी अहलमद की। सरकार भी अपने कर्त्तव्य की इति इसी में समझ लेती थी कि उक्त हाकिम अथवा अहलमद को सचेत कर दिया जाय कि भविष्य में वह ऐसा न करे। सरकार की इसी ढिलाई का यह परिणाम है कि आज तक कचहरियों और दफ्तरों में हिंदी को उचित स्थान न मिला और आये दिन इस बात पर विवाद होता रहता है कि हिंदी को कहाँ तक सरकारी काम-काजों में महत्त्व दिया जाय।

समय-समय पर सरकार की ओर से युक्तप्रांत की भाषा के विषय में जो विज्ञप्तियाँ निकलती रही हैं उनका विवरण देना व्यर्थ होगा।

संक्षेप में यहाँ इतना जान लीजिए कि १६ फरवरी सन् १९३३ ई० को कौंसिल ने यह प्रस्ताव मान लिया कि हाकिम को अधिकार है कि वह कचहरी अथवा अदालत की कार्रवाई चाहे जिस भाषा में करे। वह देवनागरी और उर्दू मे से किसी भी लिपि का व्यवहार कर सकता है। पर साथ ही उसने यह भी प्रस्ताव किया कि किसी भी देश-भाषा के कागद की नकल उसी लिपि मे दी जायगी जिसमें कि लेनेवाला चाहता है। इस प्रकर हम देखते हैं कि कौंसिल ने भी हिंदी और उर्दू को बराबर का स्थान दिया। कौंसिल का उक्त प्रस्ताव अपने शुद्ध रूप में यह है—

"That the Council recommends to the Government that the presiding officers of all courts should be at liberty to write the proceedings of courts either in Devanagri or Urdu script as they like.

"That this Council recommends to the Government that certified copies of all vernacular records and documents may be supplied to the applicants according to their desire either in Devanagri or Urdu script" (February 16. 1933).

फारसी-भाषा की जगह जैसे उर्दू-भाषा चालू हो गई, वैसे ही फारसी-लिपि की जगह उर्दू-लिपि का नाम चल निकला, फिर भी उर्दू के हिमायतियों को संतोष न मिला। कारण यह था कि उन्हें नागरी से बड़ा भय था। भय ने उस समय निश्चय का रूप धारण कर लिया जब कांग्रेस प्रभुत्व में आई और जनता सचेत हो अपनी भाषा और अपनी लिपि की ओर लपक पड़ी। अब चारों ओर से यह आग्रह होने लगा कि वस्तुतः युक्तप्रान्त की देश-भाषा उर्दू और देश लिपि भी उर्दू ही है। सरकार की आज्ञाओं और विज्ञप्तियों में जहाँ कहीं वर्नाक्यूलर शब्द दिखाई देता था वहाँ चट उसका अर्थ उर्दू लगा लिया जाता था। निदान, इस धाँधली से ऊबकर ७ फरवरी सन् १९३९ ई० को लेजिस्लेटिव असेंबली में श्री चरणसिंह ने यह प्रश्न किया कि युक्तप्रांत

की अदालती अथवा हाकिमी भाषा क्या है ? यह केवल उर्दू ही है अथवा नागरी और फारसी-लिपि में लिखी जानेवाली हिंदुस्तानी ? कहना न होगा कि यह प्रश्न बड़े ठिकाने का था और सरकार की ओर से इसका उत्तर भी ढंग का मिल गया। प्रधान मंत्री के पार्लियामेंटरी सेक्रेटरी ने उत्तर दिया कि हाकिमी भाषा अँगरेजी है और अदालती भाषा हिंदुस्तानी है जो नागरी और फारसी दोनों लिपियों में लिखी जाती है। सरकार की नीति है कि देवनागरी और फारसी लिपि को समभाव से देखा जाय। उत्तर महत्त्व का है, अतएव इसे मूल रूप में भी देख लें। सरकार का कहना है —

"The official language is English. The court language is Hindustani written in both scripts—Devanagri and Persian. The policy of Government is that both Devanagri and Persian scripts should be treated on the same footing"

(February 7, 1939.)

अस्तु, हम देखते हैं कि ठीक सौ वर्ष के बाद इतनी रगड़-झगड़ करने के उपरान्त फिर नागरी को युक्तप्रान्त की अदालतों में उचित स्थान मिला है। अब कहना चाहें तो सरलता से बिना किसी रोक-टोक के कह सकते हैं कि आरम्भ में कम्पनी-सरकार ने जिस प्रकार फारसी भाषा और फारसी-लिपि के साथ ही साथ नागरी-भाषा और नागरी-लिपि को अदालतों में स्थान दिया था, उसी प्रकार युक्तप्रांत की उदार सरकार ने आज फिर उर्दू भाषा (यदि कही जा सकती है) और फारसी-लिपि के साथ हिंदी भाषा और हिंदी-लिपि को भी स्थान दिया है। अब यह आपका कर्त्तव्य है कि आप अपनी भाषा और अपनी लिपि का अपमान करें अथवा सम्मान। सरकार तो अब इस विषय में कुछ और करने से रही। यदि कुछ करेगी भी तो नागरी का अनिष्ट ही। क्योंकि गत सौ सवा-सौ वर्षों का इतिहास इसी बात का प्रमाण है कि सरकार ने धीरे-धीरे नागरी-लिपि और हिंदी-भाषा को कचहरियों और दफ्तरों से बड़ी क्रूरता के साथ निकाल दिया और जी-जान से

इतना प्रयत्न करने पर भी किसी प्रकार उसे उर्दू के बराबर रख दिया। उसने कभी इस बात पर ध्यान ही नहीं दिया कि उसके व्यवहार की भाषा कहाँ तक देश-भाषा अथवा जनता की बोली है। अच्छा होगा, उसकी सर्वसुबोध हिंदुस्तानी का एक नमूना उसके सामने रख दिया जाय और यह भी स्पष्ट बता दिया जाय कि वस्तुतः हम उसे किस रूप मे देखना चाहते हैं और सचमुच किसे सर्वसुबोध समझते हैं। लीजिए एक नोटिस है —

"लिहाज़ा बज़रियः इस तहरीर के तुम, रामपदारथ मज़कूर को इत्तला दी जाती है कि अगर तुम ज़र मज़कूर यानी मुबलिग़ १५।≈) जो अज़रूए डिगरी वाजिबुल अदा है इस अदालत मे अन्दर पन्द्रह रोज़ तारीख मौसूल इत्तलानामा हाज़ा से अदा करो वरनः वजह ज़ाहिर करो कि तुम मुन्दर्जा ज़ैल खेतों से जिनके बाबत बक़ाया डिगरीशुदा वाजिबुल अदा है, बेदख़ल क्यों न किये जाओ।"

यह तो हुई हमारी उदार सरकार की ठेठ हिंदुस्तानी जिसे उसके पाले-पोसे जीव ही समझते हैं, पर हम इसे इस रूप मे सहज मे समझ सकते हैं —

"सो इस लेख से तुमको जताया जाता है कि तुम ऊपर कहा हुआ रुपया जिसकी तुम्हारे ऊपर डिगरी हो चुकी है इस नोटिस के पाने से पन्द्रह दिन के भीतर इस अदालत में चुकता करो, नहीं तो कारण बतलाओ कि तुम नीचे लिखे खेतों से जिनके ऊपर डिगरी का रुपया चाहिए, क्यों न बेदख़ल किये जाओ।" (आचार्य रामचन्द्रजी शुक्ल के 'हिंदी एण्ड मुसलमांस' शीर्षक लेख से, लीडर १९ अप्रैल सन् १९१७ ई०)।

कहने का निचोड़ यह कि जब तक हिंदी-जनता हिंदी और नागरी के व्यवहार के लिए तुल नहीं जाती और वकीलों, मुहर्रिरों और अहलकारों को विवश नहीं कर देती तब तक देश मे किसी देश-भाषा का बोलबाला नहीं हो सकता। यदि सचमुच आर्यावर्त को अपनी भाषा और अपनी लिपि की लाज रखनी और अपने जन्मसिद्ध अधिकार को

प्राप्त करना है तो आज से ही आप दृढ़ संकल्प कर लें कि नागरी के अतिरिक्त किसी और को अपने प्रतिदिन के व्यवहार और काम-काज में कभी भी स्थान न देंगे और यदि कोई विघ्न डालेगा तो उसे भी देख लेंगे। विश्वास रखिए जहाँ आपने ऐसा अनुष्ठान किया वहाँ देश से हिंदुस्तानी का ब्रह्मराक्षस दूर हुआ और आप राष्ट्र की स्वतंत्र भावभूमि पर आ जमे। फिर न तो हिंदी-उर्दू का द्वन्द्व रहा और न रहा हिंदुस्तानी का कहीं कोई ओझा ही। हाँ, सभी को अपनी वाणी मिल गई और साथ ही मिल गया अपनों में अपना स्थान भी। हम निपट गँवार राजनीति को क्या जानें? पर हमारी परम्परागत भाषा का व्यवहार यही है, यही है, यही है। और यही है हमारा राष्ट्रहृदय अथवा सच्चा स्वराज्य भी—राष्ट्र और राज्य भी।

१८—उद्धार का उपाय

हिंदुस्तानी का मुँहचंग बजाने से स्वराज्य नहीं मिल सकता। इसके लिये तो स्व का मर्म समझना होगा। 'स्व' कल की कलित कल्पना का नाम नहीं है; वह तो अतीत की परितः अनुभूति का पुंज है। अरे! भविष्य का प्रासाद उसी अतीत की चट्टान पर टिकाऊ बनता है, कुछ इधर-उधर के उठते-बैठते बबूलों पर नहीं। यही कारण है कि हम राष्ट्र को इधर-उधर के चलते-फिरते लटकों से उबारकर उसे अतीत के ठोस आधार पर खड़ा देखना चाहते हैं। पर यह अतीत का ठोस आधार सामने आये तो कहाँ से। हम तो न जाने कितने दिनों से 'वल्ला और वाहवाही' के पीछे मर रहे हैं। कमर कसकर जीवन-संघर्ष में उतर पड़ना और अपने को जीवन-क्षेत्र का वीर कहना तो कभी का छूट चुका है। अब तो कला और मेल की डुग्गी पिट रही है और 'कमर' की खोज ने 'उस पार' का चोंगा पहन लिया है। निदान एकता और उद्धार का उपाय यहाँ से भी कुछ ओझल हो चला है। यहाँ का मेल-मिलाप तो अभिनय का आलिंगन अथवा भीड़ का भाईचारा है। यदि हमें

जीवन का बीज बोना है तो एक बार अपने अतीत का सिंहावलोकन अनिवार्य रूप से करना ही होगा। किन्तु केवल पोथी-पत्रों के पलटने से काम न चलेगा। पोथी पत्रों में जीवन का संग्रह नहीं हुआ है। उनमें तो बुद्धि विलास और विद्याविभव ही ठूस ठाँसकर भरे गये हैं। हाँ, भावों का व्यायाम और विचारो का व्यवसाय भी उनमें खूब हुआ है पर राष्ट्र का सच्चा जीवन तो उनसे कुछ दूर हो रहा है। लोकजीवन लोकगीतो के साथ चला है। उन्हीं मे हमारा सच्चा जीवन और सच्चा हृदय खिला हुआ है। परन्तु लोकगीतो का अर्थ कुछ खास ढंग के स्त्री-गीतो से ही नहीं है। लोकगीतो का क्षेत्र भी अपार है। अब समय आ गया है कि हिंदुस्तानी के पैसे के 'बारह मजे' से मुक्त हो लोकगीतों का सच्चा आनद उठाया जाय और यह प्रत्यक्ष दिखा दिया जाय कि जिस एकता और जिस विभूति के लिये तुम सयानी रीडरों के फेर में पड़े हो वह तुम्हारे जीवन से बहुत पहले देश के कोने कोने मे फैल चुकी है और फलतः आज भी घर घर मे बोल रही है। हाँ, सड़कों और शहरों की सड़ी-गली गलियों में उसकी फेरी नहीं होती; और न यत्र तत्र उसके जुलूस ही धूम से निकलते हैं। कारण, उसे आत्म-विज्ञापन नहीं, आत्म-प्रकाश भाता है।

अच्छा तो राष्ट्र का वास्तविक उद्धार और एकता का मूल स्रोत उन्हीं गीतो में है जो घर-घर और गाँव-गाँव फैले हुए हैं और बहुत कुछ गवैयों के मुँह मे भी पड़े हुए हैं। यदि आप उनका अध्ययन करे, मनन करें और उनके विनय और विषय पर ध्यान दे तो आपके भीतर एक नवीन ज्योति की स्फूर्ति और एक सजीव भाव का उदय हो, जिसके प्रकाश में सभी मनमुटाव नष्ट हो जायँ। परंतु इसकी संभावना तभी है जब प्रत्येक भारतीय प्रत्येक गान का संग्रह अपना धर्म समझे और सभी प्रकार के कच्चे-पक्के गानों पर समदृष्टि रखे। स्त्री-गीतो के साथ ही साथ नाना प्रकार के जातिगीतों का भी संग्रह होना चाहिए और उन उस्तादो के गानो का भी शीघ्र ही प्रकाशन हो जाना चाहिए जो कभी मुसलिम बादशाहों के दरबार की शोभा थे। उनके मुँह मे ऐसे अनमोल रत्न पड़े

हैं जो कहीं दिखाई ही नहीं देते और न जाने उनमें कितना इतिहास छिपा है। 'संगीत-राग-कल्पद्रुम' तो एक व्यक्ति के श्रम का फल है। अभी न जाने कितने वैसे कल्प-द्रुम तैयार हो सकते हैं। आशा है, यह प्रार्थना समर्थ आँखों से पढ़ी और सशक्त कानों से सुनी जायगी और हम वह कर दिखायेंगे जिसको देखकर उर्दू की आँखें देखना सीखेंगी। फिर तो किसी हिन्दुस्तानी की छूमन्तर का काम ही न रह जायगा। वैसे आप जानें और जाने आप का काम भी। स्मरण रहे —

"का भाषा का संस्कृत, प्रेम चाहिये साँच।
काम जो आवै कामरी, का लै करै कमाँच ॥"

बस, 'कमाच' को धरो और 'कामरी' को बरतो फिर देखो तो सही तुम वही हो जिसके होने के हेतु यह सब कुछ हुआ। अस्तु !

लेखक की अन्य रचनाएँ

उर्दू का रहस्य	॥)
कचहरी की भाषा और लिपि	॥)
भाषा का प्रश्न	॥)
मुगल बादशाहों की हिन्दी	॥)
तव्वसुफ या सूफी मत	३)
अनुराग बाँसुरी	१॥)